Year 3, Issue 12
Oct.-Dec. 2006

VASUDHA A CANADIAN PUBLICATION

EDITOR - PUBLISHER : SNEH THAKORE

कैनेडा से प्रकाशित साहित्यिक पत्रिका

वसुधा

संपादन व प्रकाशन
स्नेह ठाकुर

वर्ष ३ - अंक १२, अक्टूबर-दिसम्बर २००६

वसुधा

संपादन व प्रकाशन : स्नेह ठाकुर

शीर्षक	रचयिता	पृष्ठ
संपादकीय		२
बीती विभावरी जाग रे !	प्रो. भागवत प्रसाद मिश्र	३
गाँधी के टॉल्स्टोय	विष्णु प्रभाकर	४
शुभ दिनों की बाट !	सदोष हिसारी	९
ग़ज़ल	मधुप शर्मा	१०
हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासों की उपलब्धियाँ	डॉ. नरेन्द्र कोहली	११
झोंका	डॉ. दामोदर ख से	१६
विश्वास	सुदर्शन रत्नाकर	१७
महानगर	मीनाक्षी	२०
निर्वासित बादशाह बहादुर शाह ज़फ़र	राजीव भाटिया	२१
स्मरण	जवाहर इन्दु	२३
जमी बर्फ़ का कवच	डॉ. सुषम बेदी	२४
ग़ज़ल	राजेन्द्र बहादुर सिंह 'राजन'	२६
साथ	डॉ. सत्येन्द्र श्रीवास्तव	२७
वह आया था	डॉ. कुसुम अंसल	२८
ग़ज़ल	एलिजाबेथ कुरियन 'मोना'	३३
उस पार	बनवारी शर्मा	३४
मैं इन्तेहा हूँ कि इब्तेदा हूँ?	डॉ. रेखा 'रोशनी'	३५
प्रत्यागमन	डॉ. इन्द्रा भटनागर	३६
पिता	स्नेह ठाकुर	३९
ईश्वर कप` सी रहा था	दानिश	४१
धरती की पी ा	उपासना सिंह	४३
ज़िन्दगी का जहाँ कारवाँ आ गया	राम प्रसाद शर्मा 'महरिष'	४४

रचनाओं में निहित विचार तथा मन्तव्य रचनाकारों के निजी विचार तथा मन्तव्य हैं। 'वसुधा' रचनाकारों के विचारों के लिए उत्तरदायी नहीं है। प्रकाशक की आज्ञा बिना कोई रचना किसी प्रकार उद्धृत नहीं की जानी चाहिए। प्रकाशित रचनाओं पर कोई पारिश्रमिक नहीं दिया जाएगा।

रचनाएँ भेजने के लिए सम्पर्क पता :
16 Revlis Crescent, Toronto, Ontario M1V-1E9, Canada. TEL. 416-291-9534
वार्षिक शुल्क Annual subscription..........$20.00
डाक द्वारा By Mail................................$25.00
Web Site: http://ca.geocities.com/sneh.thakore/Home.html

संपादकीय (अंक १२, अक्टूबर-दिसम्बर २००६)

'वसुधा' अपने शैशव के तीन वर्ष पूरे कर रही है। इस दौरान कैनेडा, भारत, अमेरिका, इंग्लैंड, मैक्सिको आदि कई देशों के महान लेखकों ने 'वसुधा' को अपनी भाव-भीनी रचनाओं की रस-गंगा से प्लावित किया।

हिन्दी जगत सभी लेखकों का आभारी है कि उसे 'वसुधा' के माध्यम से उनकी रचनाओं के रसास्वादन का अवसर मिला और 'वसुधा' अपने सभी प्रिय साहित्कारों एवं पाठकों के प्रति आभारी है कि उन्होंने दिन-प्रति-दिन अपने सहयोग व बढ़ावे से उसे बढ़ावा दिया। माँ सरस्वती की अर्चना-पूजा में प्रतिपल संलग्न रहने में निरन्तरता प्रदान की, आगे बढ़ने का साहस प्रदान किया।

अपनी प्रिय भाषा हिन्दी के प्रति 'वसुधा' कटिबद्ध है। अपनी भाषा, साहित्य और संस्कृति के प्रचार, प्रसार, व उन्नयन के प्रति 'वसुधा' सतत प्रयत्नशील रहेगी।

यदि, भारतवंशियों के लिए स्वदेश बने इस विदेश में, हिन्दी के उत्थान के प्रति कोई भी कहीं से भी, यहाँ से या अन्य देशों से, किसी भी प्रकार का आर्थिक अनुदान, सदस्यता के रूप में या अन्य किसी रूप में देना चाहे तो 'वसुधा' आभारी होगी।

पाश्चात्य देशों में जब भी हिन्दी भाषा का प्रश्न उठता है तो सदा यही सुनने को मिलता है कि भारतीय तो न केवल अँग्रेजी जानते हैं बल्कि उसे ही प्राथमिकता भी देते हैं। उनके हिसाब से हिन्दी को प्राथमिकता देने वाले भारतीयों की गणना अधिक नहीं है। अतः आर्थिक रूप से 'वसुधा' से जु ` लोगों के माध्यम से 'वसुधा' यह दिखलाना चाहती है कि यह सत्य नहीं है। हम अपनी भाषा को प्राथमिकता देते हैं। हमें अपनी भाषा पर गर्व है। व्यक्तिगत रूप से एवं 'वसुधा' के माध्यम से हिन्दी के प्रचार, प्रसार एवं उत्थान हेतु जो भी संभव है वह कर रही हूँ, पर यदि इसमें और भी लोगों का, वृहद समाज का सहयोग मिल जाये तो सोने पे सुहागा है।

'वसुधा' के प्राथमिक वर्ष में कैनेडा में आयुक्त भारत की भूतपूर्व उच्चायुक्त, हाई कमिश्नर माननीया श्रीमती शशि त्रिपाठी जी ने अपने पत्र में लिखा था, 'आपकी पत्रिका कनेडियन भारतीय, विश्व के अन्य भागों के भारतीय तथा भारतीय लेखक-लेखिकाओं के बीच सेतु का काम करेगी जिससे सभी लाभान्वित होंगे तथा भारतीय साहित्य सम्पूर्ण विश्व में फूलेगा-फलेगा।' हार्दिक प्रसन्नता की बात है कि 'वसुधा' उनकी इस धारणा को आप सबके प्रयास से सार्थक सिद्ध कर रही है।

अतिरिक्त प्रसन्नता का विषय है कि इस वर्ष 'वसुधा' के लेखक भारत निवासी डॉ. नरेन्द्र कोहली को जहाँ भारत में 'दीनदयाल उपाध्याय' पुरस्कार से सम्मानित किया गया वहीं अमेरिका की 'प्रतिध्वनि' व 'सियाटल हिन्दी समिति' के द्वारा भी। अमेरिका निवासी उषादेवी कोल्हटकर का नवीनतम उपन्यास 'खोया हुआ किनारा' प्रकाशित हुआ है। 'वसुधा' अपने लेखकों के गौरव से गौरवान्वित हुई। 'वसुधा' की ओर से दोनों को हार्दिक बधाई।

अंत में, मेरा काव्य-संग्रह 'अनुभुतियाँ' आप सबकी शुभकामनाओं को अपनी झोली में समेटे इस वर्ष मार्च में प्रकाशित हुआ था। आपकी प्रतिक्रियाओं के लिए अनेकानेक धन्यवाद।

दीपावली की शुभकामनाओं सहित,

सस्नेह,

स्नेह ठाकुर

बीती विभावरी जाग रे !

प्रो. भागवत प्रसाद मिश्र

बीती विभावरी जाग रे
अम्बर पर भी हो गया अरुण
चहुँ दिशि फैला अनुराग रे !

कलियों ने भी आँखें खोलीं
सुमनों ने निज पाँखें खोलीं
मलयानिल ने छू लिया उन्हें
वे मुस्कायीं, फिर यों बोलीं
हम तो हिल-मिल रह लेती हैं
मानव में लगती आग रे !

डालियाँ हिलीं संकेतों में
बालियाँ हँस प ीं खेतों में
सर-सर करते तरुपात हिले
जीवन जागा संकेतों में
तुझको प्रणाम है सृष्टिकार
गाते कोयल और काग रे !

मन तू खोया किन तानों में
उलझा किन तानों-बानों में
यह समय कर्म का है पागल
मत गँवा इसे अनुमानों में
यह समय भैरवी का है प्रिय
क्यों छे` राग विहाग रे !
बीती विभावरी जाग रे।

गाँधी के टॉल्स्टॉय

विष्णु प्रभाकर

"तरुण भारतीय गाँधी ने मृत्यु का आलिंगन कर रहे टॉल्स्टॉय के हाथ से वह दिव्य ज्योति सँभाल ली जिसे वृद्ध रूसी देवदूत ने अपने हृदय में प्रदीप्त किया था। उस दिव्य ज्योति को गाँधी ने अपने प्यार और दर्द से पोषित किया और एक मशाल का रूप दे दिया। उससे भारत आलोकित हो उठा और उस आलोक के प्रतिबिम्ब ने भू-मंडल को जगमगा दिया।"

ये शब्द न किसी रूसी विद्वान के हैं, न भारतीय तत्त्ववेत्ता के। ये शब्द हैं फ्रांसीसी मनीषी रोमाँ रोलाँ के।

बावज़ूद विरोधों, विरोधाभासों और विनाशकारी युद्धों के, संसार कितना एकरूप है - भारतीय राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन का एक भावी कर्णधार तीन समन्दर पार एक रूसी चिन्तक और साहित्यकार की ओर प्रेरणा के लिए देखता है, और सुदूर फ्रांस में बैठा एक मनीषी मुग्ध हो उठता है।

वर्तमान शताब्दी से पूर्व ही बहुत से भारतवासी रूसी साहित्यकारों की कृतियों से परिचित हो चुके थे। साहित्यकार या कलाकार की मूल संवेदना परिवेश की भिन्नता के बावज़ूद एक ही होती है। इसलिए देशों के ध कते दिलों को जो ने में उसकी कृतियों का योगदान जितना सार्थक होता है उतना किसी तत्त्व का नहीं। समान नैतिक मूल्यों और आध्यात्मिक विचारों के कारण भारतवासियों ने विशेष रूप से टॉल्स्टॉय की रचनाओं में अपनी ध कनों की आवाज़ सुनी थी।

गाँधीजी प्रचलित अर्थों में साहित्यकार नहीं थे। जिस समय वे टॉल्स्टॉय की ओर आकर्षित हुए उस समय तक भारत राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के कर्णधार भी नहीं बने थे। फिर भी यह आश्चर्यजनक सत्य है कि दक्षिण अफ्रीका में चल रहे भारतीयों के मुक्ति संघर्ष के दौरान, आत्मिक संकट में प े हुए बैरिस्टर गाँधी ने प्रेरणा के लिए इस रूसी चिन्तक की ओर देखा।

यह घटना सन् १९०९ की है, परंतु यह भी सत्य है कि इससे अनेक वर्ष पूर्व अपनी तरुणाई में ही, एक प्रबुद्ध पाठक के रूप में, टॉल्स्टॉय की चार कहानियों का अनुवाद करके उन्होंने 'इण्डियन ओपीनियन' में प्रकाशित किया था। विशेष रूप से 'ईश्वर का राज्य तुम्हारे अंदर है', कहानी ने उन्हें झकझोर दिया; इतना कि २३दिसम्बर १९०८ को, यानी टॉल्स्टॉय को पत्र लिखने से पूर्व ही, उन्होंने फोक्सरस्ट जेल के वार्डन जी. नेलसन को इसकी एक प्रति भेंट की थी। लेकिन प्रत्यक्ष रूप से उन दो महाप्राण व्यक्तियों के जु ने का तात्कालिक कारण बना टॉल्स्टॉय का सन् १९०८ में लिखा गया 'एक हिन्दू के नाम पत्र'।

वैंकोवर से गुप्त रूप से प्रकाशित फ्री हिन्दुस्तान के संपादकों ने (इसके प्रधान संपादक सुप्रसिद्ध देशभक्त तारकनाथ दास थे) टॉल्स्टॉय को एक पत्र लिखते हुए मुक्ति संग्राम में भारतीयों का समर्थन करने की अपील की थी। इसी अपील के उत्तर में टॉल्स्टॉय ने अपना उक्त सुप्रसिद्ध पत्र लिखा था। उन्होंने भारतीय देशभक्तों को सलाह दी, "बुराई का प्रतिरोध मत करो, किंतु स्वयं बुराई में साझीदार मत बनो; न्यायालय के कामों में, कर-संग्रह में तथा जो बात और भी महत्वपूर्ण है, सेना की हिंसा में भाग मत लो। फिर संसार में कोई ताकत आपको गुलाम नहीं बना सकेगी।"

ऐसा नहीं कि भारतीय इन साधनों से अपरिचित थे। बंग-भंग आंदोलन के कर्णधारों ने बहुत कुछ इसी मार्ग को अपनाया था। टॉल्स्टॉय ने जिन नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की वकालत की है, वे सभी भारतीय दर्शन में निहित थे। गाँधीजी उनसे परिचित हो चुके थे, परंतु टॉल्स्टॉय के माध्यम से गाँधीजी ने उनको एक नये ही रूप में देखा। टॉल्स्टॉय उन मूल्यों को जी कर देख चुके थे। यह तथ्य उनके लिए वरदान बन कर आया। विशेषकर इस लिए कि वे उन दिनों एक तरह के आत्मिक संकट

के दौर से गुज़र रहे थे। ऐसे समय में टॉल्स्टॉय के अनुभूत विचार उनके सामने ताज़ा हवा के झोकों की तरह आए और उन्होंने गाँधीजी को नई अन्तर्दृष्टि प्रदान की।

१८अगस्त, १९०९ को अपने एक रिश्तेदार की गिरफ़्तारी पर टॉल्स्टॉय ने जो मार्मिक वक्तव्य दिया था, उसे पढ़कर गाँधीजी अत्यंत प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा, "जो व्यक्ति इस प्रकार लिख सकता है, सोच सकता है और उसके अनुसार व्यवहार कर सकता है, उसने तो जगत जीत लिया है, दुख पर विजय प्राप्त कर ली है और अपना जीवन सार्थक बना लिया है।"

इस पृष्ठभूमि में गाँधी जी ने टॉल्स्टॉय को पहला पत्र १ अक्टूबर, १९०९को लिखा। तब वे दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद के विरुद्ध संघर्ष कर रहे थे। पत्र लिखने के समय वे लंदन आए हुए थे। वे चाहते थे कि बरतानिया की सरकार भारतीयों की ओर से दक्षिण अफ्रीका की सरकार पर दबाव डाले।

गाँधीजी ने इस चिट्ठी में दक्षिण अफ्रीका में काम करने वाले तेरह हज़ार भारतीयों की दयनीय दशा का वर्णन करते बताया कि वे कैसे रंगभेद के विरुद्ध संघर्ष कर रहे हैं। "उन पर नाना प्रकार की पाबंदियाँ लगी हुई हैं। उनके ख़िलाफ़ एक विशेष कानून पास हुआ है। उसका उद्देश्य उनके साथ भेदभावपूर्ण तथा अपमानजनक व्यवहार करना है, परंतु उन्होंने काले कानून के आगे सिर झुकाने की बजाय जेल जाना पसंद किया। सरकार ने उन्हें बर्बाद, बेरोज़गार और बेघरबार कर दिया और जेल में ठूँस दिया। परंतु हिंसा व बल प्रयोग का ज़रा भी आश्रय लिए बिना, ये लोग अधिकारियों के आदेश स्वीकार करने से इंकार कर रहे हैं। संघर्ष अभी जारी है। कब ख़त्म होगा, कहना कठिन है। परंतु हममें से कुछ लोग अच्छी तरह समझ गये हैं कि जहाँ पशुबल की हार निश्चित हो, अनाक्रामक प्रतिरोध वहाँ भी विजयी होगा और हो सकता है. . . .।" अंत में लिखा, "मैं आपके निकट नितांत अपरिचित हूँ, फिर भी मैंने सत्य के हित को दृष्टिगत करके आपको यह पत्र लिखने की धृष्टता की है और उन समस्याओं के बारे में आपका मार्गदर्शन चाहा है, जिन्हें हल करना आपने अपने जीवन का ध्येय माना है।"

एक अज्ञात व्यक्ति से ऐसी चिट्ठी पाकर टॉल्स्टॉय का उत्सुक हो उठना स्वाभाविक था। अनाक्रामक प्रतिरोध और सत्याग्रह-संघर्ष के तरीक़े ऐसे थे जिनकी वे निरंतर वकालत करते आ रहे थे। श्री तारकनाथ दास के पत्र के उत्तर में उन्होंने यही तो लिखा था और यही सब पढ़कर गाँधीजी उन्हें पत्र लिखने के लिए प्रेरित हुए थे। 'सामने-सामने होय प्रणयेर विनिमय' के अनुसार हज़ारों मील दूर बैठे इन दो महापुरुषों के अन्तर में प्रेम का अंकुर जैसे फूट निकला। टॉल्स्टॉय ने उस दिन अपनी डायरी में लिखा, "ट्रांसवाल के हिन्दू द्वारा भेजा गया सुन्दर पत्र मिला।"

उन्होंने ७अक्टूबर को इस पत्र का उत्तर देते हुए लिखा, "आपका अत्यंत रोचक पत्र पाकर मुझे अपार आनंद हुआ। मेरी कामना है कि भगवान ट्रांसवाल के हमारे प्यारे भाइयों और उनके सहयोगियों की सहायता करे. . . .कठोरता से कोमलता का, दर्प तथा हिंसा से विनम्रता और प्रेम का, ठीक वैसा ही संघर्ष यहाँ हमारे बीच में प्रतिवर्ष अधिकाधिक ज़ोर पक ता जा रहा है। यह ज़ोर धार्मिक आदेश और दुनियावी कानून में चलने वाले एक तीव्रतम विरोध के रूप में, अर्थात् सैनिक सेवा से इंकार करने के रूप में विशेष रूप से दिखाई प ता है। ऐसे इंकार दिन-प्रतिदिन तेजी से बढ़ते जा रहे हैं।"

उन्होंने गाँधीजी को यह अनुमति भी दे दी कि वे 'एक हिन्दू के नाम पत्र' के अनुवाद का वितरण कर सकते हैं। अनुवाद को उन्होंने बहुत ही सुंदर बताया।

गाँधीजी को टॉल्स्टॉय का यह पत्र उस दिन मिला जिस दिन वे बरतानिया की सरकार से निराश हो चुके थे। उसने भारतीय प्रवासियों के लिए दक्षिण अफ्रीका की सरकार से अपने संबंध बिगा ने से स्पष्ट इंकार कर दिया था। तब १०नवम्बर, १९०९को उन्होंने टॉल्स्टॉय को दूसरा पत्र लिखा, "मेरी राय में ट्रांसवाल के भारतीयों का यह संघर्ष आधुनिक युग का सबसे महान संघर्ष है। वह साध्य और साधन दोनों दृष्टियों से आदर्श है। . . .मैं किसी ऐसे संघर्ष के बारे में नहीं जानता जिसमें लोगों ने, मात्र किसी सिद्धांत की सफलता के उद्देश्य से, किसी व्यक्तिगत लाभ की चिंता किए बिना, हँसते-हँसते इतने कठिन कष्ट और संकट झेले हों। आपने जो रास्ता सुझाया है उसमें आपके प्रोत्साहन से हमारे अपने निश्चय को और अधिक बल मिलेगा। लन्दन में मुझे सफलता नहीं मिली। मैं जोहानिसबर्ग लौट रहा हूँ, जहाँ जेल के दरवाज़े मेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं।"

गाँधीजी ने इस पत्र के साथ ब्रिटिश पादरी जोसेफ़ आई. डोक की लिखी एक पुस्तक मोहनदास करमचन्द गाँधी, दक्षिण अफ्रीका में भारतीय देशभक्त भी भेजी। इस धृष्टता के लिए क्षमा माँगते हुए लिखा, "यह पुस्तक मेरे जीवन और इस संघर्ष पर प्रकाश डालती है जिसके लिए मैंने अपना जीवन अर्पित कर दिया है।"

टॉल्स्टॉय ने यह पुस्तक और भी उत्सुकता से पढ़ी। हाशिये पर टिप्पणियाँ लिखीं और पत्र को इस इरादे से कि कल उत्तर देंगे, एक पत्रिका में रख दिया, पर दुर्भाग्य से अगले दिन वो बीमार प गए। वह पत्रिका वहाँ से हटा दी गई। पत्र उसी में रह गया। ४७वर्ष बीत जाने पर सन् १९५६में ही उसका पता लग सका।

लेकिन बावजूद इस दुर्घटना के पत्र-व्यवहार चलता रहा। पाँच महीने बाद ४अप्रैल १९१० को गाँधी जी टॉल्स्टॉय को तीसरा पत्र लिखते हैं। उसके साथ वे अपनी पुस्तक 'हिन्द स्वराज' का अँग्रेजी अनुवाद भी भेजते हैं, इस प्रार्थना के साथ कि टॉल्स्टॉय उसे पढ़ें और अपने विचार लिखें। वे इस पत्र के साथ एक 'हिन्दू के नाम पत्र' के अँग्रेजी और गुजराती अनुवाद की कुछ प्रतियाँ भी भेजते हैं। टॉल्स्टॉय की बेटी अलेक्ज़ेन्दरा अपने पिता की जीवनी में इसकी चर्चा करती हुई लिखती हैं, "बाद में गाँधी ने पिताजी को अपनी पुस्तक 'हिन्द स्वराज' भेजी। उस पर टिप्पणी करते हुए पिता जी ने चैरेत्कोव को लिखा, 'गाँधी तो बहुत कुछ हमारे जैसा है, मेरे जैसा. . . .।' डी.पी.मकोवित्स्की की टिप्पणियाँ भी पिताजी की, गाँधी और उनकी पुस्तक में, गहरी रुचि का प्रमाण है, 'यूरोप की सम्पूर्ण सभ्यता की एक धार्मिक हिन्दी की दृष्टि से गहरी भर्त्सना।'"

अलेक्सान्देर शिफमान लिखते हैं, "गाँधीजी की नई चिट्ठी और ख़ासतौर पर उनकी पुस्तक 'हिन्द स्वराज' के कारण भारतीय जनता के भविष्य पर टॉल्स्टॉय का ध्यान और केन्द्रित हो गया। बीमारी के दिनों में भी वह कई दिन तक गाँधीजी की नई पुस्तक तथा उन पर अँग्रेज पादरी डोक द्वारा लिखी हुई पुस्तक पढ़ते रहे। उन्होंने डायरी में अपने विचार अंकित किये, जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं, "आज मैंने गाँधी की पुस्तक पढ़ी, बहुत सुंदर।" "गाँधी के बारे में पुस्तक पढ़ी, बहुत महत्वपूर्ण। उन्हें चिट्ठी लिखनी चाहिये।" इन पुस्तकों ने टॉल्स्टॉय को इतना प्रभावित किया कि उन्होंने अपने मित्र पी.ए.बुलागेर से जो इस समय भारतीय दर्शन पर एक पुस्तक लिख रहे थे, बातचीत करते हुए गाँधीजी की बहुत प्रशंसा की। कहा, "गाँधी ने पश्चिम के बुद्धिजीवियों की उस धारणा को निर्मूल साबित कर दिया कि बुर्जुआई सभ्यता अपने आप में बुरी नहीं है, बुरे हैं वे लोग जो ज़ोर-ज़बर्दस्ती से उसका प्रचार करते हैं।"

इधर दक्षिण अफ्रीका में स्थिति बिग ती जा रही थी। सत्याग्रही बेघरबार होकर भूख से त प रहे थे। गाँधीजी ने उनकी सहायता के लिए अपने मित्र हर्मन कैलेनबाख की सहायता से 'टॉल्स्टॉय आश्रम' की स्थापना की। इसे एक छोटे से कम्यून की संज्ञा दी जा सकती है। सब लोग स्वयं काम करते थे और अपने परिश्रम का फल बाँट कर खाते थे। टॉल्स्टॉय और रस्किन की शिक्षा को व्यावहारिक रूप देने के लिए ही तो इसकी स्थापना की गई थी, यह सूचना देते हुए गाँधीजी ने १५अगस्त, १९१०को टॉल्स्टॉय को एक और पत्र लिखा। ७सितम्बर, १९१०को इसका विस्तृत उत्तर देते हुए उन्होंने 'प्यार के द्वारा शिक्षा' के अपने प्रिय सिद्धांत का प्रतिपादन किया। लिखा, "मनुष्य जाति के दुख-दर्द का कारण यही है कि वे प्रेम के कानून को अस्वीकार करके ज़बर्दस्ती के कानून को मानते हैं। उनके जीवन का संचालन करने वाले इस विधान में जो अन्याय गर्भित है उसका अहसास सारी दुनिया को होने लगा है और अत्याचारियों के विरुद्ध अनेक संघर्षों के रूप में वह प्रकट हो रहा है।"

उन्होंने इस अन्तर्विरोध की चर्चा भी की कि सत्ताधारी एक ओर तो करुणा के ख़ीस्ती सिद्धांत का प्रचार करते हैं, दूसरी ओर महाविनाश के लिए सेना और शस्त्रों की वकालत करते हैं। इसके ढाई माह बाद टॉल्स्टॉय का देहावसान हो गया और उसी के साथ यह पत्र-व्यवहार भी समाप्त हो गया। यह आत्मिक संबंध अवधि की दृष्टि से अत्यंत अल्पकालिक था, परंतु परिणाम की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण। क्या यह अनोखी बात नहीं है कि समुन्दर पार से आने वाले अँग्रेजों के शोषण के विरुद्ध

संघर्ष कर रहे हमारे स्वाधीनता संग्राम के सेनानियों ने समुन्दर पार के ही एक रूसी देवदूत से मार्गदर्शन की अपेक्षा की ! उस देवदूत ने कहा, "गाँधी तो मेरे जैसा है।"

गाँधीजी बार-बार अपने आश्रम के विद्यार्थियों से उनकी पुस्तकें पढ़ने का आग्रह करते रहे। स्वयं भी जेल में उनके ग्रंथों का अध्ययन करते रहे। क्यों? क्योंकि वे मानते थे, "टॉल्स्टॉय की रचनाएँ बहुत सरल और सरस हैं और किसी भी धर्म को मानने वाला उन्हें पढ़ कर उनसे लाभ उठा सकता है। इसके सिवा वे उन व्यक्तियों में से हैं जो जैसा कहते हैं वैसा करते भी हैं। इसलिए वे जो कुछ लिखते हैं, या कहते हैं, उस पर हम साधारणतः ज़्यादा भरोसा कर सकते हैं।"

अपनी आत्माकथा में उनकी पुस्तकों की चर्चा करते हुए वे लिखते हैं, "टॉल्स्टॉय की, 'ईश्वर का राज्य तुम्हारे हृदय में है' नामक पुस्तक ने मुझे मोह लिया। उसका मुझ पर गहरा प्रभाव प ा। इस पुस्तक में मैंने जिस स्वतंत्र चिन्तन, गहन नैतिकता और सच्चाई के दर्शन किए उसके सामने मि. कोट्स (एक इसाई पादरी) की दी हुई सब पुस्तकें फीकी लगीं।" उन्होनें टॉल्स्टॉय का अध्ययन बढ़ा लिया। "उनके 'गॉस्पेल्स इन ब्रीफ़' (मत-विधान का सार), 'ह्वाट टु डू' (क्या करें) आदि पुस्तकों ने मेरे हृदय पर गहरा असर डाला। विश्व प्रेम मनुष्य को कहाँ तक ले जा सकता है, इसे मैं अधिकाधिक समझने लगा।"

गाँधीजी ने ईसा के उपदेशों के संबंध में उनके पेशेवर पैरोकारों की बनिस्बत टॉल्स्टॉय से, जिन्हें चर्च ने बहिष्कृत कर दिया था, अधिक शिक्षा प्राप्त की। टॉल्स्टॉय ने कहा था, "संगठित चर्च ईसा का सबसे ब ा शत्रु है।"

टॉल्स्टॉय जन्म-शताब्दी के अवसर पर गाँधीजी ने सत्याग्रह आश्रम में जो लंबा व्याख्यान (हिंदी नवजीवन, २० सितम्बर, १९२८) दिया था, उसमें उन्होंने अपना दिल खोलकर रख दिया। समय-समय पर अब तक जो वे कहते आ रहे थे, उस सबका सार इसमें समाहित है। उसके कुछ अंश इन दो महाप्राण व्यक्तियों के संबंधों की गहराई को समझने में सहायक हो सकते हैं, "तीन पुरुषों ने मेरे जीवन पर गहरा प्रभाव डाला है। उसमें पहला स्थान कवि रायचंद्र को देता हूँ, दूसरा टॉल्स्टॉय और तीसरा रस्किन को।"

टॉल्स्टॉय के जीवन में जो अंतर्विरोध थे उनसे गाँधीजी खूब परिचित थे। उनकी चर्चा करते हुए वे उसी भाषण में कहते हैं, "टॉल्स्टॉय के जीवन में जो विरोधाभास दीखता है वह टॉल्स्टॉय का कलंक या कमज़ोरी नहीं है, किंतु देखने वालों की त्रुटि है। . . . सीधा मार्ग यह है कि जिस वक्त जो सत्य प्रतीत हो उसका आचरण करना चाहिये। यदि हमारी उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है तो हमारे कार्यों में दूसरों को विरोध दीखे भी तो उसकी चिंता हम क्यों करें ! टॉल्स्टॉय के जीवन में जो विरोध दिखाई देता है वह विरोध नहीं है, हमारे मन का विरोधाभास है।"

अंत में वे युवकों से कहते हैं कि वे टॉल्स्टॉय के जीवन से तीन बातें सीख लें. (१) संयम का मार्ग, (२) सत्य की अराधना, और (३) ब्रेड लेबर। ब्रेड लेबर का उदाहरण टॉल्स्टॉय अपने जीवन में ओतप्रोत करके उपस्थित करते हैं। इसका अर्थ ई, "शरीर को कष्ट देकर, मेहनत करके खाने का अधिकार।" यही तो वैदिक यज्ञ है।

गाँधीजी ने सत्याग्रह के माध्यम से भारतीय मुक्ति संग्राम का संचालन किया। इस सत्याग्रह का विचार उनके मन में कैसे उत्पन्न हुआ, इसकी चर्चा करते हुए उन्होंने कहा था, "सत्याग्रह के महत्व और उपयोग का अहसास पहले-पहल मुझे, न्यू टेस्टामेंट से हुआ, भगवद्‌गीता ने मेरे इस विचार को अधिक दृढ़ कर दिया, और टॉल्स्टॉय के ईश्वर का राज्य तुम्हारे हृदय में ही है ने विचार को स्थायी रूप दे दिया।"

इसी प्रकार 'अनाक्रामक प्रतिरोध' शब्द को नापसंद करते हुए भी उन्होंने इसे इसलिए स्वीकार किया कि "बहुत दिनों से इस शब्द से प्रकट होने वाले विचार को कार्यरूप में परिणित करने वाले लोग इसी का व्यवहार करते हैं। 'आत्मबल' शब्द से यह विचार पूर्णतया और अधिक उत्तम रूप से व्यक्त होता है। ईसा मसीह, डैनियल और सुकरात ने अनाक्रामक प्रतिरोध या आत्मबल को शुद्धतम रूप में प्रकट किया था। ये सभी गुरू अपनी आत्मा की तुलना में अपने शरीर को तुच्छ समझते थे। टॉल्स्टॉय इस सिद्धांत के सर्वश्रेष्ठ व्याख्याकार थे। उन्होंने न केवल इसकी व्याख्या की बल्कि तदनुसार अपना जीवनक्रम भी ढाला।"

अहिंसा के संदर्भ में भी वे टॉल्स्टॉय को युग-पुरुषों की श्रेणी में रखते हैं, "अहिंसा दूसरे गुणों का नाश नहीं करती बल्कि उन्हें कार्यरूप में परिणित करने के लिए एकदम अनिवार्य बना देती है। महावीर, बुद्ध और टॉल्स्टॉय सब योद्धा थे। इन लोगों ने अपने काम का बहुत ही गहन और सच्चा स्वरूप देख लिया था और एक सच्चे, प्रसन्न, प्रतिष्ठित और दैवी-जीवन का रहस्य जान लिया था।"

टॉल्स्टॉय २० नवम्बर, १९१० को स्वर्गवासी हुए। २६ नवम्बर को गाँधीजी ने लिखा, "टॉल्स्टॉय की आत्मा का मरण तो हो ही नहीं सकता। केवल उनका शरीर जो मिट्टी से पैदा हुआ था, मिट्टी में जा मिला है।" यही आत्मा आगामी ३८ वर्षों तक गाँधीजी की प्रेरणा का स्त्रोत बनी रही। ७सितम्बर, १९१० के उनके अंतिम पत्र के ये वाक्य सदा उनके अन्तर की आवाज़ बन के गूँजते रहे, "जिसे बुराई का प्रतिकार न करने का सिद्धांत कहा जाता है, वह वास्तव में प्रेम के अनुशासन का ही दूसरा नाम है जो मिथ्या व्याख्या की विकृति से अछूता है। दूसरों के साथ तादात्म्य स्थापित करने और एकात्म होने की अभिलाषा ही प्रेम है। प्रेम के साथ-साथ प्रतिकार की भावना की गुंजाइश स्वीकार करते ही प्रेम का अस्तित्व मिट जाता है।"

हमने देखा कि गाँधीजी जब भी टॉल्स्टॉय के संबंध में विचार करते थे तो सहमति के क्षेत्र ही उनकी दृष्टि में रहते थे। और वह क्षेत्र इतना व्यापक और सर्वग्राही था कि बिना किसी अतिशयोक्ति के यह कहा जा सकता है कि दोनों ही अपनी-अपनी जनता की मुक्ति की आकांक्षाओं का साकार रूप बन गये थे। दोनों मानते थे कि दूसरे के श्रम का उपयोग करना अनुचित है। दोनों जनता की खुशियाली के समर्थक थे। दोनों ने धर्म के वास्तविक अर्थ को समझ लिया था - मनुष्य में विश्वास, उसकी साधुता में विश्वास, उसकी आत्मा की शक्ति, उसके प्रेम और बलिदान करने की उसकी तत्परता में विश्वास - दोनों इसी भावना को धर्म मानते थे। दोनों की आवाज़ सारे संसार में सुनी जाती थी। दोनों के विचारों पर उन गुणों की छाप थी, जो उनके समय की प्रगतिशील जनवादी प्रवृतियों को प्रतिबिम्बित करते थे। वे गुण थे मानवतावाद, स्वतंत्रता से प्रेम, और अत्याचार से घृणा। इसीलिए वे दोनों सत्ता तथा सम्पत्ति वालों के द्वारा दूसरे लोगों के उत्पी न के कटुतम आलोचक थे और साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद के प्रबल विरोधी। शांति, न्याय और सामाजिक प्रगति दोनों का समान ध्येय था।

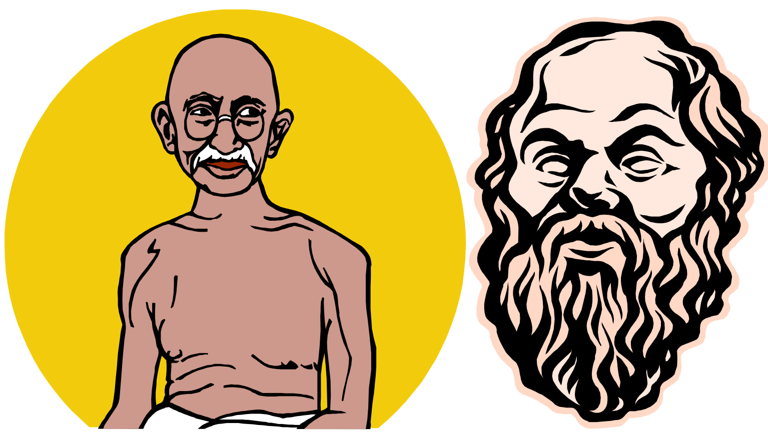

शुभ दिनों की बात !

सदोष हिसारी

पाँखुरी ज्यूँ दिन झरे
खोईं मधुर रातें
इतिहास का हिस्सा हुईं
चौपाल की बातें

अच्छी आज़ादी मिली
काबिज़ हुई खादी
कुटिलताओं से लदी
दिखती भली-सादी
चल रही दिन-रात, देखो -
नित नई घातें

कह रहे थे सब
कि उसको मिल गई मुक्ति
नुच रही थीं जब सुनहले
मोर की पाँखें

आत्माएँ बेच डालीं
भूनकर, तलकर
बेहयाई नाच नंगा
नाचती खुल कर

शुभ दिनों की बाट जोहती
थक गईं आँखें !

ग़ज़ल

मधुप शर्मा

छाई है गहरी उदासी शाम से,
दिल हुआ मश्कूक किस अंजाम से।

चाँद, तारे मुंतज़िर हैं सब यहाँ,
रुक गये हो तुम कहाँ, किस काम से।

छटपटाता दर्द भी झट सो गया,
थपथपाया जब तुम्हारे नाम से।

चल सँभल के, साजिशों का दौर है,
सब को मतलब अपने अपने काम से।

चल के देखें तो, चमन में क्या हुआ,
क्यों परिन्दे हैं परेशाँ शाम से।

खुद अँधेरे ही करेंगे मुख़बिरी,
बच नहीं पाओगे तुम इल्ज़ाम से।

कोई भी रहबर न सच्चा मिल सका,
हम भटकते ही रहे नाकाम से।

गुरुद्वारे, गिरजे, मंदिर, मस्जिदें,
सब अखा` हैं तुम्हार नाम से।

ऐ मसीहाओं बनाओ इक जगह,
सब झुकें इन्सानियत के नाम से।

हिंदी के ऐतिहासिक उपन्यासों की उपलब्धियाँ

डा. नरेन्द्र कोहली

इतिहास, ऐतिहासिक उपन्यास, ऐतिहासिक रोमांस और ऐतिहासाभासिक कृतियों का अंतर हम समझते हैं; किंतु ऐतिहासिक उपन्यास का लक्ष्य क्या है? क्या उसका लक्ष्य उपन्यास से कुछ भिन्न हो सकता है? मैं समझता हूँ कि ऐतिहासिक उपन्यास की सृजन प्रक्रिया भिन्न हो सकती है, भिन्न है भी; किंतु उसका लक्ष्य न उपन्यास से भिन्न हो सकता है, न समग्र साहित्य से। सृजन प्रक्रिया की भिन्नता के विषय में काव्यशास्त्रियों और मनोवैज्ञानिकों को विचार करना चाहिए। आखिर क्या कारण था कि एक ही काल में, एक ही नगर में प्रेमचंद और जयशंकर प्रसाद अपने-अपने ढंग से अलग-अलग प्रकार की रचनाएँ रच रहे थे। नंददुलारे वाजपेयी यह आरोप लगा रहे थे कि आज जो कुछ आप समाचार-पत्र में पढ़ते हैं, कल उसे ही आप प्रेमचंद की कहानियों में पढ़ सकते हैं। उधर प्रेमचंद कह रहे थे कि जयशंकर प्रसाद ग` मुर्दे उखा रहे थे।

वैसे तो किसी भी कालखंड विशेष का चित्रण ऐतिहासिक उपन्यास हो सकता है। रंगभूमि, बूँद और समुद्र, झूठा सच, और उत्तर कथा भी अपने युग का प्रामाणिक चित्रण करने के कारण, ऐतिहासिक उपन्यास हो सकते हैं; किंतु ऐतिहासिक उपन्यास होने के लिए एक अनिवार्य शर्त है - उसकी कथा का प्रख्यात होना, पाठकों का उससे पूर्वपरिचित होना।

दूसरी ओर हम अपनी पुराकथाओं को भी अपना प्राचीन इतिहास ही मानते हैं; किंतु विद्वानों का एक वर्ग विदेशी सिद्धान्तों के अनुसार उसे मिथ अथवा मिथ्या ही मानना चाहता है। अतः वह उसे अपना इतिहास नहीं मानता। परिणामतः पौराणिक उपन्यासों की, ऐतिहासिक उपन्यासों से एक पृथक् श्रेणी बन गई है। पुराकथाओं को अपना इतिहास मानते हुए भी मैं चाहूँगा कि पौराणिक उपन्यासों का वर्ग ऐतिहासिक उपन्यासों से पृथक् ही रहे। कारण? पौराणिक उपन्यास केवल एक काल विशेष की घटनाएँ ही नहीं हैं, उनकी एक मूल्य व्यवस्था है। वे उपनिषदों के मूल्यों को चरित्रों के माध्यम से उपन्यास के रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं। जो उपन्यास पौराणिक काल, घटनाओं और चरित्रों पर आधृत तो हैं, किंतु उस मूल्य व्यवस्था का अनुमोदन नहीं करते, उन्हें पौराणिक उपन्यास कहना उचित नहीं है। उनमें से अधिकांश तो पौराणिक मूल्य व्यवस्था से अपरिचित अथवा उनके विरोधी लोगों द्वारा उन्हें ध्वस्त करने के लिए ही लिखे गये हैं। इसप्रकार ऐतिहासिक उपन्यासों का क्षेत्र, बहुत विस्तृत है। परिणामतः विभिन्न मान्यताओं, रुचियों और विचारधाराओं के अनुसार ऐतिहासिक उपन्यास और ऐतिहासिक उपन्यासकारों की गणना और आकलन होते रहते हैं।

प्रेमचंदपूर्व और प्रेमचंद की ऐतिहासिक और जीवनीपरक कथाएँ समाज को अपना गौरव और शौर्य स्मरण कराने में सफल हुई थीं। किंतु उनका जीवन दीर्घकालीन नहीं हुआ। प्रेमचंद रचित 'हरिसिंह नलवा' आज कितने लोगों को स्मरण है? उनका बस ऐतिहासिक महत्व ही रह गया है।

वृन्दावनलाल वर्मा के अपने वक्तव्यों के अनुसार उनके ऐतिहासिक उपन्यास लिखने के कुछ सामान्य तथा कुछ विशेष कारण हैं। उन्होंने स्वीकार किया है कि सर वाल्टर स्कॉट के अँग्रेजी उपन्यास पढ़ कर उनके मन में यह बात आई थी कि वे भारत के सम्मान की प्रतिष्ठा के लिए भारत के इतिहास के गौरवपूर्ण पृष्ठों को लेकर वैसे ही उपन्यास लिखेंगे। इस सामान्य कारण के साथ-साथ एक विशेष कारण देते हुए उन्होंने एक घटना की चर्चा की है। बुंदेलखंड में बसे एक पंजाबी परिवार के यहाँ एक विवाह के अवसर पर वर्मा जी भी आमंत्रित थे। वहाँ उस पंजाबी परिवार के अनेक सगे-सम्बंधी और परिचित भी उपस्थित थे। उन लोगों के मध्य होने वाला वार्तालाप वर्मा जी ने भी सुना, जिसमें वे लोग बुंदेलखंड की निर्धनता, पिछ`पन तथा अशिक्षा के विषय में अपमानजनक ढंग से चर्चा कर रहे थे और इस क्षेत्र तथा वहाँ के निवासियों के प्रति अपनी घृणा व्यक्त कर रहे थे। वर्मा जी ने स्वीकार किया है कि यह सब अत्यन्त अपमानजनक लगा और उन्होंने वहीं संकल्प किया कि वे बुंदेलखंड के गौरव को प्रतिष्ठित करने के लिए उपन्यास लिखेंगे।

उन्होंने अपनी क्षमतानुसार अपने अभीप्सित काल के इतिहास की छान-बीन की, अपने कथ्य के लिए प्रमाण जुटाए; और थो`-बहुत ऐतिहासिक रोमांस की सृष्टि भी की। यद्यपि उनका क्षेत्र केवल

बुंदेलखंड तक ही सीमित है; किंतु हम जानते हैं कि अपनी धरती से प्रेम करने वाला लेखक अपनी संस्कृति से भी प्रेम करता है। वस्तुतः इतिहास और भूगोल ही तो संस्कृति का निर्माण करते हैं। उन्होंने 'विराटा की पद्मिनी' और 'गढ़ कुंडार' जैसे ऐतिहासिक रोमांस और 'झाँसी की रानी' जैसा इतिहास-बोझिल उपन्यास भी लिखा; किंतु 'मृगनयनी' जैसे संतुलित उपन्यास भी आए। उनका दृष्टिकोण अत्यन्त स्पष्ट है। लेखक अपने समय से मुक्त नहीं होता। वृन्दावनलाल वर्मा के पास अपनी थीम है। वे अपनी लेखनी से एक युद्ध कर रहे हैं। उनका लेखन एक संघर्ष है। वे देश का सर्वश्रेष्ठ प्रस्तुत करने का प्रयत्न कर रहे हैं; और अपने समाज का मनोबल भी बढ़ा रहे हैं।

स्वामी विवेकानंद ने परिव्राजक के रूप में भारत का भ्रमण करते हुए, अलवर में अपने शिष्यों से कहा था कि आज तक भारत का इतिहास विदेशियों ने ही लिखा है। भारत का इतिहास अव्यवस्थित है। उसमें कालक्रम परिशुद्ध और यथार्थ नहीं है। अँग्रेजों तथा अन्य विदेशियों द्वारा लिखा गया इतिहास हमारे मनोबल को तो ने के लिए ही है। वह हमें दुर्बल ही बनाएगा। वे हमें हमारे दोष ही बताते हैं। जो विदेशी, हमारे तौर-तरीके, रीति-रिवाज, हमारे धर्म और दर्शन को बहुत कम समझते हैं, वे हमारा वास्तविक और पूर्वाग्रहरहित इतिहास कैसे लिख सकते हैं? इसीलिए उसमें अनेक भ्रांतियाँ घर कर गई हैं। अब यह हमारे लिए है कि हम अपना स्वतंत्र मार्ग खोजें। अपने प्राचीन ग्रंथों का अध्ययन करें, शोध करें, और परिशुद्ध, यथार्थ, सहानुभूतिपूर्ण ताथा आत्मा को उद्दीप्त कर देने वाला इतिहास लिखें।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री के भी अपने लेखन के संबंध में कुछ ऐसे ही वक्तव्य मिल जाते हैं। 'सोमनाथ' के विषय में उन्होंने लिखा है कि कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी के उपन्यास 'जय सोमनाथ' को पढ़ कर उनके मन में आकांक्षा जागी कि वे मुंशी के नहले पर अपना दहला मारें, और उन्होंने अपने उपन्यास 'सोमनाथ' की रचना की। 'वयंरक्षामः' की भूमिका में उन्होंने स्वीकार किया है कि उन्होंने कुछ नवीन तथ्यों की खोज की है, जिन्हें वह पाठक के मुँह पर मार रहे हैं। परिणामतः नहले पर दहला मारने के उग्र प्रयास में 'सोमनाथ' अधिक से अधिक चामत्कारिक तथा रोमानी उपन्यास हो गया है; और अपने ज्ञान के प्रदर्शन तथा अपने खोजे हुए तथ्यों को पाठकों के सम्मुख रखने की उतावली में, उपन्यास विधा की आवश्यकताओं की पूर्ण उपेक्षा कर वे 'वयंरक्षामः' और 'सोना और खून' में पृष्ठों के पृष्ठ अनावश्यक तथा अतिरेकपूर्ण विवरणों से भरते चले गए हैं। किसी विशिष्ट कथ्य अथवा प्रतिपाद्य के अभाव ने उनकी इस प्रलाप में विशेष सहायता की है। ये कोई ऐसे लक्ष्य नहीं हैं, जो किसी कृति को साहित्यिक महत्व दिला सकें अथवा वह राष्ट्र और समाज की स्मृति में अपने लिए दीर्घकालीन स्थान बना सकें। 'सोना और खून' लिखते हुए चतुरसेन शास्त्री, कदाचित्, इतिहास की रौ में ऐसे बह गए कि भूल ही गए कि वे उपन्यास लिख रहे हैं, अतः सैक ों पृष्ठ इतिहास ही लिखते चले गए। इससे उपन्यास तत्व की हानि होती है; क्योंकि उपन्यास मात्र इतिहास नहीं है। 'वैशाली की नगरवधू' तथा अन्य अनेक ऐतिहासिक उपन्यास लिखने का लक्ष्य एक विशेष प्रकार के परिवेश का निमार्ण करना भी हो सकता है; किंतु इससे इंकार नहीं किया जा सकता है कि अनेक लोग 'वैशाली की नगरवधू' में स्त्री की बाध्यता और पी ा देखते हैं। वैसे इतिहास का वह युग, एक ऐसा काल था, जिसमें साहित्यकार को अनेक आकर्षण दिखाई देते हैं। महात्मा बुद्ध, आम्रपाली, सिंह सेनापति तथा अजातशत्रु के आसपास हिंदी साहित्य की अनेक महत्वपूर्ण कृतियों ने जन्म लिया है। उसमें स्त्री की असहायता देखी जाए, या गणतंत्रों के निमार्ण और उनके स्वरूप की चर्चा की जाए, वात्सल्य की कथा कही जाए, या फिर मार्क्सवादी दर्शन का सादृश्य ढूँढ़ा जाए - सत्य यह है कि वह परिवेश कई दृष्टियों से असाधारण रूप से रोमानी था।

रांगेय राघव के ऐतिहासिक उपन्यासों की भी एक लम्बी सूची है। यहाँ तक कि उन्होंने उस काल पर भी लम्बे उपन्यास लिखे हैं, जिसका प्रामाणिक इतिहास उपलब्ध नहीं है। अतः उसे प्रागैतिहासिक काल कहा जाता है। 'मुर्दों का टीला' में उन्होंने उस युग का काल्पनिक चित्र प्रस्तुत किया है और अपने अनुमान से एक संस्कृति के विलुप्त हो जाने का कारण बताया है। किंतु जिस संस्कृति का विस्तार आज हरियाणा ही नहीं गुजरात तक प्रमाणित हो रहा हो, उसका एक जलप्लावन में समाप्त हो जाना, बहुत सहमत नहीं करता। डूबता एक कस्बा है, नगर डूबता है। कभी-कभी भूकम्प से पॉम्पेयी जैसा नगर ध्वस्त हो जाता है। इस प्रकार एक पूरी संस्कृति जलप्लावन में समाप्त नहीं हो जाती। या फिर वह कोई खण्ड प्रलय ही था। किंतु जहाँ की यह चर्चा है, वहाँ से जल

विलुप्त होने के प्रमाण तो मिले हैं, जलप्लावन के नहीं। फिर भी लेखक की ऐतिहासक कल्पना की उ ान का आनन्द तो वैसे उपन्यास देते ही हैं।

हजारीप्रसाद द्विवेदी के सारे ही उपन्यास ऐतिहासिक-पौराणिक उपन्यासों की श्रेणी में आते हैं। उनका परिवेश चित्रण अद्‌भुत है। वे पामाणिक भी हैं और आकर्षक भी। किंतु 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की नायिका भट्टिणी ऐतिहासिक चरित्र नहीं है; और उपन्यास की अनेक घटनाएँ ही नहीं, उसका प्रतिपाद्य भी भट्टिणी पर ही निर्भर करता है। अतः वह उपन्यास ऐतिहासिक न रह कर ऐतिहासिक रोमांस हो जाता है; किंतु उपन्यास की दृष्टि से वह दुर्लभ कृति है। 'चारुचंद्रलेख' तथा 'पुनर्नवा' प्राचीन साहित्यिक कृतियों तथा प्रख्यात लोककथाओं पर आधृत कृतियाँ हैं। 'अनामदास का पोथा', उपनिषद के पात्र रैक्व मुनि को केन्द्रीय पात्र बनाकर लिखा गया है। अतः उसकी गिनती पौराणिक उपन्यासों में ही होती है; किंतु स्पष्टतः लेखक के पास अपना प्रतिपाद्य है। वह अपने समय की समस्याओं को सार्वदेशिक और सार्वकालिक समस्याओं के साथ जो कर उनके शाश्वत समाधान को खोज कर प्रस्तुत कर रहा है।

यह सारा सर्वेक्षण मेरे मन में यह धारणा दृढ़ करता है कि ऐतिहासिक उपन्यास की सार्थकता केवल उस देश और काल के सुंदर और आकर्षक चित्रण मात्र में नहीं है। वह अपने युग को असीम और निर्बाध काल के साथ जो ता है और उसका अपना एक निश्चित् प्रतिपाद्य भी होता है। उसके अभाव में कोई कृति महत्व प्राप्त नहीं कर सकती। यशपाल की 'दिव्या' एक सिद्धांत के प्रतिपादन के लिए लिखी गई। किंतु उसमें इतिहास नहीं, मात्र ऐतिहासिक परिवेश है। वहाँ इतिहास का कलात्मक आभास मात्र है, जैसे भगवतीचरण वर्मा की 'चित्रलेखा' है। वे ऐतिहासिक उपन्यास नहीं हैं। वहाँ अपनी बात कहने के लिए इतिहास का कलात्मक भ्रम मात्र उत्पन्न किया गया है।

विधाओं के इस क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण प्रश्न जीवनी और उपन्यास का भी है। जीवनी पूर्णतः ऐतिहासिक कृति है; किंतु वह उपन्यास नहीं है। रांगेय राघव ने उपन्यास के बहुत निकट रहते हुए, अनेक पात्रों की ऐतिहासिक जीवनियाँ लिखी हैं।

अमृतलाल नागर ने अनेक युगों से संबंधित अनेक ऐतिहासिक उपन्यास लिखे हैं और उन सबका अपना महत्व है। किंतु उनके तीन उपन्यास 'एकदा नेमिषारण्य', 'मानस का हंस' तथा 'खंजन नयन' कुछ स्पष्टीकरण चाहते हैं। 'एकदा नेमिषारण्य' के केन्द्र में महाभारत-लेखन का विषय है। वह उपन्यास महाभारत कथा से संबंधित नहीं है, अतः वह पौराणिक उपन्यास नहीं है। उसकी समस्या केवल इतनी है कि महाभारत की वर्तमान प्रति, किस काल में और किन लोगों के द्वारा प्रस्तुत की गई। वह काल पूर्णतः ऐतिहासिक है। पात्र चाहे काल्पनिक ही हों। उपन्यास का नायक 'महाभारत का पुनर्लेखन' है।

'मानस का हंस' और 'खंजन नयन' हिंदी के दो महान् कवियों को नायक बना कर लिखे गए उपन्यास हैं। यद्यपि 'खंजन नयन' के महत्व से मुझे कोई इंकार नहीं है; किंतु इसमे कोई संदेह नहीं कि अपनी किन्हीं जटिलताओं के कारण वह 'मानस का हंस' के समान न तो चर्चित हुआ और न ही लोकप्रिय ही।

'मानस का हंस' अनेक रूपों में विलक्षण उपन्यास है। नायक गोस्वामी तुलसीदास के समय की दृष्टि से यह ऐतिहासिक उपन्यास है और उनके जीवन, चिंतन, साधना, तपस्या, लक्ष्य और उपलब्धि की दृष्टि से वह किसी पौराणिक उपन्यास से भिन्न नहीं लगता। उसका नायक पुराण पुरुष है। . . . किंतु पुराण पुरुष को आज के एक साधारण पुरुष से अत्यंत दूर और भिन्न होना चाहिए, जबकि तुलसी एक ऐसे अस्तित्व हैं, जिन्हें हम प्रतिदिन स्मरण करते हैं और अपने बहुत निकट पाते हैं। उनसे तादात्म्य कर सकते हैं।

वह न इन्द्र की अमरावती में जन्म लेता है, न किसी ऋषि आश्रम में। एक अभागा बालक है तुलसी, जो उस समय जन्म लेता है, जब देश और ग्राम पर संकट आया हुआ है। युद्ध चल रहा है। सत्ता का हस्तांतरण हो रहा है। माता का देहांत हो जाता है और पिता उसे अभागा मान कर त्याग देते हैं। अंतः और बाह्य साक्ष्यों पर चित्रित किया गया उनका बचपन बताता है कि जो कोई उसे सहारा देने का प्रयत्न करता है, वह संसार के मंच से हट जाता है। उसमें कुछ भी आलौकिक नहीं है, फिर भी ईश्वरीय लीला का प्रवेश हो ही जाता है। जिसका कोई न हो, उसका ईश्वर होता है। तुलसी का भी ईश्वर ही है। वस्तुतः यह भी पुराणों में आई भक्तों की कथा जैसी ही घटना है कि

व्यक्ति का अहं पूर्णतः विगलित हो जाता है और वह ईश्वर के सम्मुख पूर्ण आत्मसमर्पण कर देता है, तो ईश्वर उसका हाथ पक लेते हैं।

किशोर होने तक तुलसी देख लेते हैं कि संसार में कितनी हिंसा है, कितना स्वार्थ है। भूख है, नंगई है। अन्न के लिए स्त्री और पुरुष का शरीर मंडी में बिकता है। सत्ता अत्याचारी है, धन करुणाहीन है, धर्म के केन्द्र भोग में डूबे हैं। ईर्ष्या द्वेष मे लिप्त है। प्रत्येक भक्त के समान तुलसी भी अपने ईश्वर से पूछते हैं कि यदि यह सृष्टि उसकी है, तो यह संसार इतना नारकीय क्यों है?

किशोरावस्था में नारी प्रेम है; किंतु तुलसी अधर्म के मार्ग से अपना प्रेम प्राप्त करने का न साहस करते हैं, न प्रयत्न। युवावस्था में दाम्पत्य है और दाम्पत्य का संघर्ष। नारी पुरुष का विरोध। मायके और ससुराल का पक्ष। पुत्री, पत्नी और नारी का मनोविज्ञान। . . . और फिर वैराग्य का आरम्भ। अंतहिं तोहि तजेंगे पामर, जो न तजे तू अब ही तें। . . . यहाँ से तुलसी एक सामान्य पुरुष से कुछ ऊपर उठते दिखते हैं। यह अस्वाभाविक नहीं है। संवेदनशील मन, वैराग्य का भाव और पत्नी की कठोरता। ऐसे में दो ही विकल्प हैं : या तो वे कामिनी के दास हो जाते, या फिर काम से मुक्त हो जाते। सत्वहीन होते तो जीवन भर को कामिनी के दास होकर रिरियाते। पर राम का दास काम का दास कैसे हो जाता?

तुलसी के माध्यम से एक कवि के निर्माण का चित्रण बहुत ही प्रामाणिक रूप से हुआ है। सर्जक मन तो इस प्रकार उनके साथ हो लेता है, जैसे सृजन प्रक्रिया को जानने और समझने के लिए, उनका अनुचर हो गया हो।

ज्योतिषियों और लेखकों की प्रतिस्पर्धाएँ। विद्वानों का एक-दूसरे के विरुद्ध षड्यंत्र। धन और यश के लिए मारामारी। ईर्ष्या, द्वेष के बिना तो साहित्य का शायद किसी युग में अस्तित्व रहा ही नहीं है।

साधना के मार्ग में बाधाएँ हैं, प्रलोभन है। वे स्त्री के रूप में भी आते हैं और धन-संपत्ति के रूप में भी। किसी भी क्षेत्र का कोई भी साधक जानता है कि वह आगे बढ़ता है, तो उसे रोकने के लिए विघ्न-बाधाओं के रूप में छोटी-मोटी उपलब्धियाँ ही आती हैं। यदि वह उनमें उलझ जाता है तो आगे नहीं बढ़ता। उन्हें ठुकरा देता है तो ब ी उपलब्धियों तक जा पहुँचता है।

तुलसी अपने व्यक्तिगत सम्बन्धों से मुक्त होकर समग्र समाज के हो जाते हैं। अतः समाज की पी ा को देखते और समझते हैं। तभी तो सामाजिक सेवा को वे राम का काम बताते हैं। भूखे प्यासे ब्रह्महत्यारे को जल और भोजन देते हैं। और जाति के नाम पर ललकार कर कहते हैं : धूत कहो, अवधूत कहो, रजपूत कहो, जोल्हा कहो कोई। काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब, काहू की जाति बिगारि न सोऊ।

यहीं से संसार और वैराग्य का संबंध स्पष्ट होता है। संसार और ब्रह्म का समन्वय होता है। संन्यासी और समाज का संबंध प्रकट होता है। आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी की 'अनामदास का पोथा' में आई कई उक्तियाँ यहाँ स्मरण हो आती हैं। वे कहते हैं कि तपस्या वन में नहीं होती, समाज में रह कर होती है। तुलसी को भी समाज की पी ा व्यापती है। वे समाज की सेवा में लग जाते हैं।

कामिनी और कंचन का त्याग ही प्रगति का मार्ग है। धन और यश की कामना को त्यागे बिना मुक्त नहीं हुआ जा सकता। तभी तो तुलसी कहते हैं कि धन की तृष्णा से भी बुरी है यश की लिप्सा। और अंत में रहीम खानखाना द्वारा प्रस्तावित अकबर के दरबार की मंसबदारी को ठुकरा देते हैं।

अध्यात्म का वह सिद्धांत कि दुखी की सेवा के समान दूसरा पुण्य नहीं है और 'पर पी ा सम नहिं अधमाई'। इसे व्यास ने भी कहा है और तुलसी ने भी पहचाना है। यहीं से स्पष्ट होता है कि संन्यास और वैराग्य का स्वरूप क्या है। स्वार्थ से ऊपर उठ कर, आसक्ति का त्याग कर, देह के संबंधों से मुक्त हो कर ईश्वर की बनाई समग्र सृष्टि से प्रेम; और उसे शिव मान कर उसकी सेवा ही वैराग्य है। ईश्वर निर्भरता ही संन्यास है। इसी से अंततः साधक को ईश्वर की प्राप्ति होती है।

वस्तुतः अपने इतिहास के उज्ज्वल रूप की पूजा, अपनी संस्कृति की ही पूजा है। तुलसी ने रामचरितमानस में समग्र भारतीय संस्कृति का आसव प्रस्तुत किया था। और तुलसी को कथा नायक बना कर अमृतलाल नागर ने विदेशी आक्रमण की क्रूरता और विदेशी शासन की कठोरता के मध्य भी अपनी संस्कृति को अपने जीवन में उतारने और उसकी रक्षा के लिए संघर्ष को जीवंत कर दिया है।

भाषा की दृष्टि से भी ये सारे ही उपन्यास बहुत समर्थ और सबल हैं। हज़ारीप्रसाद द्विवेदी के शब्द तो अपना अर्थ स्वयं उद्घाटित करते चलते हैं। वे कथा सुनाते हुए भी शब्द विचार करते चलते हैं। और नागर जी चरित्रों के अनुसार बोली को जिस प्रकार प्रस्तुत करते हैं - वह अद्भुत है। उनके यहाँ ग्रामीण की अवधी, नागर की अवधी, सुशिक्षित पंडित की अवधी और अनपढ़ की अवधी, हिंदू की अवधी और मुसलमान की अवधी का भेद, अपने आप ही आप का ध्यान अपनी ओर खींचने लगता है।

इन उपन्यासों की सबसे ब ी उपलब्धि यह है कि इनमें इतिहास आज के पाठक को स्वयं से असंपृक्त अथवा बहुत दूर नहीं लगता। इहलोक और अध्यात्म दो विरोधी सत्ताएँ नहीं रह जातीं। आरण्यक जीवन और नागरिक जीवन एक-दूसरे से अपरिचित नहीं रह जाते।

उपन्यासकार के रूप में मुझे पिछले कितने ही वर्षों से इन प्रश्नों से ज़ूझना प रहा है। स्वामी विवेकानंद के संबंध में मेरे उपन्यास 'तो ो कारा तो ो' का पहला खण्ड 'निर्माण' १९९२ई. में प्रकाशित हुआ था, दूसरा 'साधना' १९९३ई. में, तीसरा 'परिव्राजक' २००३ई. में और चौथा 'निर्देश' २००४ई. में। पहले खंड की सूचना पाकर, स्वामी जी के एक भक्त, जो संयोग से मेरे पाठक भी थे, ने पूछा था कि मैं स्वामी जी के विषय में सामग्री कहाँ से लूँगा? उनकी जीवनियों से ही तो। जब मैं उन जीवनियों में कुछ जो नहीं सकता, कुछ घटा नहीं सकता, तो उपन्यास लिखने से मेरा अभिप्राय क्या है? उनकी एक नहीं अनेक अच्छी जीवनियाँ उपलब्ध हैं, ऐसे में उनके विषय में मैं उपन्यास कैसे लिखूँगा और क्यों लिखूँगा? प्रश्न मेरे अपने मन में भी थे। आज भी हैं। ये प्रश्न विधा संबंधी हैं। जीवनी और ऐतिहासिक उपन्यास में क्या अंतर है? और जीवनियाँ उपलब्ध हों तो क्या उपन्यास उससे कुछ अधिक दे सकता है? इन चौदह वर्षों में मैने पाया कि ऐतिहासिक उपन्यास जीवनी से बहुत अधिक दे सकता है। यदि ऐसा न होता तो स्वामी विवेकानंद की जीवनियाँ और उनके भाषण इत्यादि पढ़ कर भी पाठक को उपन्यास से ही अधिक तृप्ति क्यों मिलती? उपन्यास जीवनी से अधिक ऐतिहासिक नहीं होता। नहीं हो सकता। फिर भी पाठकों में उपन्यास की माँग क्यों है? स्वामी जी की कोई प्रामाणिक जीवनी नहीं बताती कि पिता के देहांत के पश्चात् उनका परिवार अकस्मात् ही इतना निर्धन क्यों हो गया था। जीवनी बताती है कि उनकी बहनें थीं, किंतु पिता के देहांत के पश्चात् पता ही नहीं चलता कि वे कहाँ गईं। जीवनीकार स्वामी जी की जीवनी लिख रहा है, अतः उनकी बहनों के विवाह की चर्चा क्यों करेगा। स्वामी जी को अल्मो ा में अपनी किस बहन की आत्महत्या का समाचार मिला था? ये तथा इस प्रकार के सैक ों प्रश्न जीवनियों में अनुत्तरित ही रह जाते हैं। जीवनीकार कहता है कि स्वामी जी ने अजितसिंह से वेदांत की चर्चा की। हरिविलास शारदा और श्यामकृष्ण वर्मा से गम्भीर चर्चाएँ कीं। किंतु वह यह नहीं बताता कि वे चर्चाएँ क्या थीं। वह यह नहीं बताता कि उनके साथ शिकागो तक जाने वाले लल्लू भाई कौन थे और वे बॉस्टन के पश्चात् कहाँ विलुप्त हो गए। कुल मिला कर जीवनी में लेखक सब स्थानों पर उपस्थित है और केवल सूचनाएँ दे रहा है। वह भी छान छान कर। उपन्यासकार उस सारे परिवेश को जीवंत बना देता है। वह ईश्वर के समान सारे पात्रों के मन में समा जाता है। वह सब कहीं व्याप्त है, पर दिखाई कहीं नहीं देता। वह परकाया प्रवेश करता है। अपने चरित्रों को दूर से नहीं देखता, उनके साथ तादात्म्य करता है, वही हो जाता है।

तो 'तो ो कारा तो ' ऐतिहासिक उपन्यास बन जाता है। इतिहास और हमारे अपने युग का अंतराल लगभग समाप्त हो जाता है। उसके नायक का राजनीति से कोई संबंध नहीं है। वह नायक पुराण पुरुष है; किंतु कलकत्ता नगर की सघन आबादी में जन्मा, पला और बढ़ा है। उसने कलकत्ता विश्वविद्यालय में अध्ययन किया है। वह राजकुमारों के समान पला है और अपने पिता के मित्रों के कारण ही दरिद्र हो जाता है। भूखे पेट, फटे और मैले कप ों में नंगे पाँव चलते हुए चक्कर खाकर गिर प ता है। ऐसे में उसे दिव्य अनुभूति होती है। अध्यात्म इस यथार्थ संसार में ऐसा प्रवेश करता है कि उस सुदर्शन पुरुष का, जिसे देख कर अमरीकी युवतियाँ पागल हो गई थीं, विवाह नहीं हो पाता। उसे एक साधारण सी पत्नी नहीं मिल पाती। जिसके विषय में डॉ. हेनरी जॉन राइट ने लिखा था कि उसकी विद्वता, अमरीका के सारे विद्वान प्रोफेसरों की सामूहिक विद्वता से भी अधिक थी, उसे कलकत्ता नगर में सौ रुपए की एक नौकरी नहीं मिलती। वह स्वयं स्वीकार करता है कि उसका जन्म

इसलिए नहीं हुआ कि वह विवाह कर बच्चे पैदा करे और क्लर्की या मास्टरी कर उनका पालन पोषण करे। वह एक लक्ष्य लेकर संसार में आया था। उसके गुरु ने उसे 'माँ का काम' कहा था।

भारत भर में घूम कर उसने भारत माता की संतानों का कष्ट देखा था। अतः विभिन्न रियासतों में घूम-घूम कर पुरातन ज्ञान को त्यागे बिना नूतन युग के ज्ञान को उससे जो ने को कहा था। खेत ी नरेश राजा अजितसिंह के प्रासाद के ऊपर भौतिकी की प्रयोगशाला खुलवा दी थी। वडोदरा के गायकवा को कहा था कि अपने यहाँ के बालकों को तकनीकी शिक्षा दें और इंजीनियरिंग कॉलेज खोलें। अमरीका में कहा था, हम तुम्हें धर्म देंगे, तुम हम को उद्योग धंधे दो। एक संन्यासी इस देश के लिए शिक्षा नीति बना रहा था, ताकि देश से निर्धनता और अज्ञान दूर हो सके। अध्यात्म संसार के बहुत निकट आ गया था।

कन्या कुमारी में समाधि में स्वामी विवेकानंद ने अपने लिए दो मार्ग देखे थे - जगदम्बा के दर्शन, समाधि का सुख और अपने लिए मोक्ष। दूसरा था भारत माता की निर्धन और पीि त संतान की सेवा। उनके लिए भारत माता और जगदम्बा में कोई अंतर ही नहीं रह गया था। वह संन्यासी विदेशियों द्वारा भारत माता के मुख पर पोती गई कालिमा को धोने के लिए अमरीका गया था और गया था कि वहाँ से स्वयं धन कमा कर लाए और इस देश के असहाय दरिद्रों की सहायता करे; क्योंकि वह जान गया था कि इस देश के धनी स्वार्थी और आत्मकेन्द्रित हैं तथा निर्धन असमर्थ हैं।

यह ऐतिहासिक उपन्यास ईशावास्योपनिषद की उस घोषणा को दोहराता है कि अध्यात्म की उपेक्षा कर केवल संसार की पूजा कर कोई देश अथवा समाज प्रसन्न नहीं रह सकता; और न ही कोई देश केवल अध्यात्म को अपना कर संसार की पूर्ण उपेक्षा कर अपना विकास कर अपने लिए सुख अर्जित कर सकता है।

हमारा ऐतिहासिक उपन्यास एक लम्बी यात्रा तय कर आया है और कुछ ऐसे निष्कर्षों पर पहुँच रहा है, जो हमारे समाज के लिए सिद्धांत मात्र नहीं हैं। वह उनका दैनन्दिन जीवन है। वह उनको एक समग्र जीवनदर्शन दे रहा है, जो केवल इहलौकिकता का वर्णन करने वाले सामाजिक - सांसारिक उपन्यास नहीं दे सकते। हाँ ! पाठक से वह थो ी सात्विक बुद्धि की अपेक्षा भी करता है। स्वामी विवेकानंद ने कहा था कि इस देश को अपनी स्वतंत्रता के लिए भी राजनीति की दलदल में धँसने की आवश्यकता नहीं है। यदि हम अपना सात्विक चरित्र प्राप्त कर लेंगे तो हमारी समस्याओं का समाधान अपने आप ही हो जाएगा।

झोंका

डॉ.दामोदर ख से

एक झोंका
तपाक् से आता है
भीतर की चुलबुली हवा
अपने आस-पास बो जाता है
समय के बरसते हैं ठहाके
खुशबू की फसल
लहलहाने लगती है
साँस अमृत हो जाती है
और शब्द मोतियों की तरह इतराते हैं
ऐसे में नज़र
शकुन-शकुन हो जाती है !
उधर अँधेरे के हौसले
पस्त हो जाते हैं
गलती से भी घुसा
यदि दुःसाहसी वह तो
उसकी छाती पर
'बिजली' टांक दी जाती है
शब्दकोश से ही
बहिष्कृत हो जाता है अँधेरा
....फिर जहाँ देखो....
सवेरा, सवेरा और केवल सवेरा
किसी के स्वागत का
करता नहीं इन्तज़ार
ऐसा झोंका
बस आता है
और महका जाता है आस-पास....
तुम रहो मुस्तैद सदा
हाथ मिलाने के लिए....
वह हथेलियों में
इत्र बो जाता है
उम्र भर के लिए
एक झोंका तपाक् से आता है !

विश्वास

सुदर्शन रत्नाकर

सूर्य की किरणें पार्क की घास पर फैलने लगी थीं। द्रौपदी ने अपार्टमेण्ट की पाँचवीं मंजिल के फ्लैट की खि की से देखा। अपना झोला उठा कर वह नीचे उतर आई। पार्क पहुँचते-पहुँचते कोने के बैंच पर बैठने तक वह बुरी तरह थक चुकी थी। घुटना ऐंठने लगा था। अपने हाथ से थो ी देर वह उसे मलती रही फिर पाँव ऊपर करके इत्मिनान से बैठ गई। ऐसा वह प्रतिदिन करती है। यदि यहाँ आकर नहीं बैठे तो फ्लैट के ठंडे कमरों में तो उसका शरीर और भी जक जाएगा। सारी दुपहर वह वहीं बैठ कर धूप सेंकती रहती है। उसका जी चाहता कि पूरी की पूरी धूप अपने शरीर में उतार ले। पर उसे जल्दी लौट जाना होता है। कभी कोई धार्मिक पुस्तक पढ़ लेती है, कभी सुई-धागे से कुछ सिलती रहती है। बहू के आने से पहले यदि वह उसे नहीं मिली तो वह नाराज हो जाएगी। बवंडर मचा देगी। नवीन के आते ही उसे कहेगी, 'इजा आज फिर घर नहीं थी। मैली-कुचैली अपनी धोती पहने पता नहीं किसके यहाँ गई होगी। क्या-क्या बातें करती होगी? कोई उनकी बात समझता भी है भला।'

ऐसा शुरू-शुरू में हुआ था। अकेले बैठे-बैठे वह ऊब गई तो नीचे उतर आई थी। वहीं वह नीचे के फ्लैट में चली आई थी। उसके बाद से वह कहीं नहीं गई। नवीन सुबह जल्दी ही घर से निकल जाता है। उसका दफ्तर दूर है। बहू, बच्चों को स्कूल भेज कर जाती है। कुछ दिन तो वह कमरे में अकेली बैठी रही लेकिन फिर उससे बैठा नहीं गया। वह चुपके से खि की से धूप के फैलने की प्रतीक्षा करती रहती है और फिर नीचे उतर आती है। धूप के उतरने के अंदाज़ से वह जान जाती है कि अब बहू और बच्चों के आने का समय हो गया है। वह अपना झोला समेट ऊपर आ जाती है।

एक दिन बहू को इसका भी पता चल गया। उस दिन वह जल्दी लौट आई थी। आस-पास के फ्लैट्स में वह बहाने से देख आई थी पर वहाँ वह नहीं मिली। चाबी तो द्रौपदी के पास ही थी। अब वह अंदर जाये तो कैसे? बाहर बैठी प्रतीक्षा करती रही। उसके लौट आने पर बहू ने उसे तो कुछ नहीं कहा लेकिन शाम को नवीन को उसे सुनाते हुए कहा था, 'कितनी बार कहा है, इस तरह इधर-उधर मारी-मारी मत फिरा करें। मैली-कुचैली सिलवटों वाली धोती पहने पता नहीं कहाँ जाती हैं। जानने वाले देखेंगे तो क्या कहेंगे। इनकी तो नहीं, बेइज़्ज़ती तो हमारी होती है न। यह नहीं कि ढंग के कप े पहन लें। समझती नहीं कि यह गाँव नहीं शहर है, हमारा अपना स्टेटस। गाँव की बातें यहाँ नहीं चलेंगी। कुछ तो आप भी समझा दिया करें।'

नवीन ने बाद मे उससे कहा था, 'इजा, यह शहर है, यहाँ लोग बस अपने-अपने घर में रहते हैं, और देखो अच्छी धोती पहन लिया करो। कप ा ही तो देखा जाता है यहाँ।'

नवीन और बहू की बात तो उसने सुन ली थी। पर वह क्या करे। जीवन भर तो उसने मोटी सूती धोती ही पहनी है फिर इतनी सर्दी में रेशमी सा ी पहन ही नहीं सकती। जो गर्मी सूती धोती में है, वह और कहाँ किसमें है भला। जीवन तो इसी में बीत गया, अब ढलती उम्र में स्वयं को क्या बदलेगी। हाँ, धोती साफ पहनेगी, यह उसने सोच लिया था।

उस रात वह सो नहीं पाई, उसे बहुत कुछ याद आता रहा था।

गाँव में खुमानी और आड़ू के पे ों से घिरा छतरी नुमा, आधा कच्ची, आधा पक्की ईंटों का बना घर जिसमें उसने जीवन के पचास बसंतों को पतझ में बदलते देखा है। ब े बेटे मनोज ने मैट्रिक करके गाँव में ही अपने खेतों और बाग की देखभाल की जिम्मेदारी ले ली थी। नवीन आगे पढ़ने शहर चला आया था।

पति की मृत्यु जब हुई, दोनों ब ी ल कियों की शादी उससे पहले हो चुकी थी। मनोज की बाद में हुई। बहू साथ के गाँव की थी। वह भी दसवीं तक पढ़ी थी। उसमें बहू वाली ऐसी कोई बात नहीं थी। बेटी बन कर उसने दोनों ल कियों की कमी पूरी कर दी थी।

मनोज नवीन की पढ़ाई का खर्चा समय पर भेजता था, उसे कोई कमी नहीं आने दी उसने। नवीन जब भी छुट्टियों में घर आता, दोनों भाई मिलकर काम देखते।

बस समय यूँ ही आगे सरकता गया, हाथ से खिसकता गया। नवीन ने शहर में नौकरी कर ली। यह तो पता ही था। जब पढ़ने गया था, बह तब भी जानती थी कि अब गाँव में लौट कर थो ा न आएगा। बहू नमिता से विवाह का सुझाव नवीन ने स्वयं दिया था। मनोज ही बात पक्की कर आया था।

शुरू-शुरू में नवीन ने उसे अपने पास बुलाया था, पर वह हर बार टालती रही। नवीन ही बहू को लेकर साल में एक बार गाँव आ जाता था। फिर धीरे-धीरे दो-तीन वर्ष में आने लगा।

इधर द्रौपदी के घुटनों में दर्द रहने लगा था। सर्दी के मौसम में पी ा असहाय होने लगती थी। सारा बदन ही जैसे ऐंठने लगता। हकीम-डॉक्टर की दवा काम ही नहीं कर रही थी, और फिर इस बार तो समय से पूर्व ही इतनी बर्फ प ी कि उसके घुटनों के दर्द ने उसका उठना-बैठना मुश्किल ही कर दिया। मनोज ने नवीन को लिखा था। उत्तर में नवीन ने लिखा था, 'इज़ा को यहाँ भेज दो, डॉक्टर को दिखा दूँगा। यहाँ सर्दी भी कम है, थो ा आराम मिलेगा।'

ससुराल की जिम्मेदारियों से सदैव मुक्त रही नमिता ने पहले तो आनाकानी की थी, जगह की तंगी की बात की। जिस जगह वह रह रहे हैं, जैसे रह रहे हैं, उसमें सदा से गाँव में रह रही सास का होना उसे अटपटा-सा लगा था। नवीन ने भी इस बात को स्वीकारा था पर वह अपनी जिम्मेदारियों को भूलना नहीं चाहता था। बस यही सोच कर उसने नमिता को किसी तरह राजी कर लिया था।

डॉक्टर के इलाज़ और कम सर्दी के कारण द्रौपदी का दर्द भी कम हो गया था, वह थो ा-बहुत चलने-फिरने लगी थी। उसके आ जाने से नमिता का काम बढ़ गया था, जिससे वह चि चि ी रहने लगी। द्रौपदी इस बात को समझती थी, इसीलिए थो ा ठीक होते ही उसने काम करना शुरू कर दिया था। पर नमिता को उसका काम पसंद ही नहीं आता। जो भी काम करती, वह कह देती है, 'इज़ा रहने दो, आपको मुश्किल होगी, मैं कर लूँगी।' पर द्रौपदी अंदर की बात समझती है। इसलिए अब वह काम करती ही नहीं। पर सारा दिन वह क्या करे। बिस्तर में प े-प े वह ऊबने लगती है। इस तरह बीमार होने का अहसास होने लगता है। घर में न तो कोई आँगन है, न ही धूप आती है। एक छोटी-सी बालकनी है, जिसमें सुबह के समय थो ी-सी धूप आँख-मिचौनी करती आती है और पल भर में ही लौट जाती है। अधर में लटका हुआ यह घर, घर थो ा न है, रैन बसेरा है, जहाँ शाम को सब पहुँचते हैं और सुबह-सुबह निकल जाते हैं।

अब जब से द्रौपदी ने खि की से यह पार्क देखा है, वह प्रतिदिन यहाँ आने लगी है। लिफ्ट वाला उसे पहचानने लगा है। उसे देखते ही दरवाज़ा खोल देता है। सुबह नीचे पहुँचा देता है और दोपहर बाद पाँचवीं मंजिल पर। थो ा चलने और धूप में बैठने से उसके घुटनों के जो अब खुलने लगे हैं। दर्द भी कम हो चला है।

इधर थो े दिनों से घर में हलचल हो रही है। नमिता घर साफ करने में लगी है। नवीन नया सामान लाने में। ड्राइंगरूम का नक्शा ही बदल गया है। उसके कानों में भी भनक प गई है। नवीन ने अपने बॉस को घर पर बुलाया है। उसके प्रमोशन की बात है। नया बॉस है घर पर बुलाने से जान-पहचान बढ़ेगी। अच्छे संबंध बन गये तो प्रमोशन जल्दी और पक्की ही समझो। यही सोच कर नवीन और नमिता उनके स्वागत में जुटे हैं। किसी तरह की कोई कमी नहीं रहनी चाहिए।

पर समस्या तो एक ही है और वह है इज़ा की। अभी-अभी विदेश से लौटे बॉस को वे किसी तरह से यह नहीं दिखाना चाहते कि उनकी ज ें कहाँ की हैं क्योंकि प्रमोशन के बाद उसका सम्पर्क ब े-ब े लोगों से हो जाएगा। कंपनी के काम से उसे कई लोगों से मेल-जोल रखना होगा।

बस यही सोच कर नमिता परेशान है। कहीं इज़ा सामने प गई तो परिचय देना भी मुश्किल हो जाएगा। उनका वह देहाती पहनावा और बोलने का ढंग !

जिस बात के लिए वे शुरू से डर रहे थे, वही हुआ। जबकि नवीन ने उसे किसी तरह समझा दिया था, 'इज़ा घर में कोई मेहमान आ रहे हैं, तुम अपने कमरे में ही रहना।'

उसने सुबह से ही स्वयं को कमरे में बंद कर लिया था। मेहमानों के आने पर वह और भी दुबक कर बैठ गई। उसे कुछ अजीब-सा लग रहा था, पर उसने अपने मन को समझाया। कहीं उसमें गलत जरूर है। नहीं तो नवीन क्यों उसे कमरे में ही बैठे रहने को कहता भला। उसने सोच लिया,

अब वह ठीक हो रही है। नवीन से कहेगी कि वह उसे गाँव अपने घर में छो आये। यहाँ उसे सब कुछ पराया-पराया-सा लगता है। अपने घर में जैसे भी रहे, उसे कोई रोकने-टोकने वाला नहीं। मनोज और बहू उसे सिर-आँखों पर बिठाये रहते हैं। शायद यह परिवेश का अंतर है जिसके कारण नवीन और मनोज में भी अंतर है।

कितनी देर वह ड्राइंग-रूम से आती आवाज़ों को सुनती रही। बहुत सारी बातें वे अँग्रेजी में कर रहे थे। जब कभी हिन्दी में बोलते तो वह बात को समझ जाती विशेष तौर पर जब बॉस कभी हिन्दी में बोलते हुए एक विशेष शब्द का प्रयोग करता। वह कुछ पहचानने का प्रयास कर रही थी। उसकी उत्सुकता बढ़ती जा रही थी और जब उससे रुका नहीं गया तो वह उठकर धीरे-धीरे चलती ड्राइंग-रूम में आ गई। नवीन और नमिता के चेहरे उतर गए। इज़ा को यह क्या सूझा भला ! सब कुछ ठीक चल रहा था। अब वे क्या करें। उससे पहले कि वे कुछ कहते उनके बॉस ने उसे पहचानते हुए कहा, 'आप द्रौपदी मौसी हैं न?'

'तुमने कैसे पहचान लिया?'

'आपके गले के ब` तिल से। शक्ल में तो बहुत बदलाव आ गया है।'

'हाय राम, तुम अभी नहीं भूले क्या?'

'कैसे भूल जाता मौसी। पर आपने मुझे पहचाना कि नहीं?'

'तुम्हारे 'अरे' को गोल करके खनकती आवाज़ से बोलने पर मैंने तुम्हें पहचान लिया था। तभी तो चली आई हूँ यहाँ, और तुम्हारे गाल पर यह निशान जो अभी तक नहीं मिटा।'

'यह निशान ही तो पुरानी बातों की याद बनाये हुए है। भागते हुए जब तुम्हारे आँगन में लगी काँटेदार तार से उलझ गया था और कील मेरी गाल को चीरते हुए निकल गई थी।'

'और भागे क्यों थे, यह भी याद है' - द्रौपदी ने कहा।

'वह कच्ची खुमानियाँ और आड़ू कभी नहीं भूला मौसी।'

वह हरीश था। उसकी प ोसिन तृप्ता की बहन का ल का जो शहर में रहता था और उस साल वह अपनी मौसी के पास रहने आया था और उसे भी मौसी ही कहता था। तब बारह-तेरह बरस का रहा होगा। नवीन अभी बहुत छोटा था यह तब की बात है। हरीश जब घर में आता, वह प्यार से उसे खाने को कितनी ही चीज़ें देती थी पर वह था कि जाते-जाते कच्ची खुमानियों से अपनी जेब जरूर भर कर जाता था। पहले तो उसे पता ही नहीं चला लेकिन एक दिन द्रौपदी ने देख लिया था और तब डर कर वह भाग ख ा हुआ। यह तार का निशान उसे इसके बदले में मिला था। इसके बाद वह गाँव नहीं आया। तृप्ता से ही पता चला था, वह पढ़ने के लिए होस्टल में चला गया था। बात आई-गई हो गई और वह भूल गई।

आज वही हरीश उसके सामने था। अपने बचपन की यादों की गाँठों को खोल रहा था। नवीन और नमिता विस्फारित नेत्रों से उन्हें देख रहे थे। नवीन की तो कुछ समझ में नहीं आ रहा था पर नमिता सोच रही थी, इज़ा के यहाँ रहने से जो मुश्किल हुई, जो सेवा की, उसका फल मिल जायेगा। इस परिचय से नवीन की प्रमोशन तो निश्चय ही हो जाएगी, ऐसा उसे विश्वास था। तब वह इज़ा के मैले-कुचैले वस्त्रों को भी भूल गई।

महानगर

मीनाक्षी

महानगर की मार्बल और ग्रेनाईट से बनी
पॉश कॉलोनी के एक फ़्लैट की चौथी मंज़िल पर
बैठ एक दिन अपने कस्बे को याद कर
आह भरते हुए कहा -
'सुनना चाहती हूँ मैं चि यों का मधुर संगीत
देखना चाहती हूँ मैं हवा से झूमते-लहराते हरे-भरे पे
भीगना चाहती हूँ मैं सावन की बारिश में
छूना चाहती हूँ मैं रंग-बिरंगे फूलों को
नापना चाहती हूँ चाँद-तारों से ढँका आकाश
दौ ना चाहती हूँ हाथ फैला खुले मैदान में
पक ना चाहती हूँ मैं मछलियाँ नदी से
तुमने गंभीर होकर सुनी मेरी बात
और उस पर अमल करते हुए
अगले ही दिन मिस्त्री को बुला
लगवा दी चि या की चहचहाहट वाली डोर-बैल -
पास की नर्सरी से ले आये गमले -
रखवा दिये बालकनी में
ड्राइंग-रूम की दीवार पर लगा दिया तुमने -
ब ा-सा पोस्टर झूमते हरे-भरे पे ों का
कॉर्नर में रखवा दिये तुमने
कीमती बेस में रंग-बिरंगे इम्पोर्टेड प्लास्टिक के फूल -
रखवा दिया तुमने काँच का ब ा-सा
एक्वेरियम, छोटी-ब ी रंगीन सुंदर मछलियों वाला
बेड-रूम की दीवार पर लगा दिया तुमने
चाँद-तारों से ढँके आसमान का जगमगाता वॉल-पेपर
और सर झुका कर कहा, लीजिये मैडम,
बंदा सारे मौसम आपके कमरे में ले आया है।

निर्वासित बादशाह
बहादुर शाह ज़फर

राजीव भाटिया

१८५७ में जब भारत के प्रथम स्वतंत्रया संग्राम का समापन हुआ तो विजेताओं के सामने एक ब ा सवाल उठ खा ा हुआ : उसका नेतृत्व करने वाले अंतिम मुगल बादशाह बहादुर शाह ज़फर (१७७२-१८६२) का क्या किया जाए। 'फूट डालो और राज करो' की मानसिकता से प्रेरित अँग्रेजों ने इस समस्या का ब ा अनोखा समाधान निकाल लिया : मुगल बादशाह को ब्रिटिश राज के किसी दूर-दराज के उजा -वीरान कोने में भेज दिया जाये। और यह स्थान था अँग्रेजों द्वारा हाल में जीता हुआ अलसाया-सा शहर रंगून। (बर्मा के आखिरी नरेश थिबौ के साथ भी अँग्रेजों ने यही किया था, उन्हें महाराष्ट्र में रत्नागिरी में निर्वासित कर दिया था।)

शुरू में तो उनकी देख-रेख के लिए प्रभारी ब्रिटिश अधिकारी कैप्टन नेल्सन डेवीज़ की समझ में नहीं आया कि अपनी इस नयी ज़िम्मेदारी से किस तरह निपटा जाये जो दिल्ली के भव्य लाल किले का आखिरी निवासी था। राजनयिक शिष्टाचार के तौर-तरीकों को एक तरफ रखकर उसने बंदी को अपने छोटे-से बँगले की तंग गैराज में ही रखने का फैसला किया। इसी जगह १८५८ से १८६२ तक बहादुर शाह ज़फर, उनकी बेगम ज़ीनत महल और पोती शहज़ादी रौनक ज़मानी ने अपने दो पुत्रों तथा शाही खानदान से जु े अन्य लोगों के साथ अपने जीवन के आखिरी वर्ष गुज़ारे। (बहादुर शाह ज़फर १८३६ से १८५७ तक दिल्ली की गद्दी के मालिक थे।)

बहादुर शाह ज़फर ब े हताश और उदास व्यक्ति थे, खास तौर पर स्वतंत्रता संग्राम के विफल हो जाने के बाद वो और भी निराश हो चुके थे। आज़ादी की ल ाई के असफल हो जाने का उन्हें भारी खामियाज़ा भुगतना प ा। उनके दो पुत्रों को ब ी बेरहमी से कत्ल कर दिया गया था; उनका राजसिंहासन छिन चुका था और उन्हें विदेश में निर्वासित कर दिया गया। वह देशभक्त थे और उन्होंने अँग्रेजों के खिलाफ संघर्ष में भारतीय राजाओं और रजवा ों को संगठित करने का प्रयास किया। अपने एक ऐतिहासिक पत्र में बहादुर शाह ने उन्हें लिखा कि 'उनकी हार्दिक इच्छा है कि समूचा हिन्दुस्तान आज़ाद हो।'

७ नवम्बर, १८६२ को ८९साल की पकी उम्र में बादशाह की मौत हुई। उनकी मौत के बाद भी अँग्रेज उनसे डरते थे। उन्हें ब्रिटिश अधिकारी के रिहायशी बँगले के अहाते में ही फौरन दफ़न कर दिया गया। जिस जगह उन्हें दफ़न किया गया उस जगह को ब ी सावधानी से छिपा दिया गया और कुछ ही दिनों में यह जगह भूमध्यरेखीय पे -पौधों से ढक गयी। पंजाब उच्च न्यायालय के पूर्व मुख्य न्यायाधीश न्यायमूर्ति जी.डी. खोसला ने अपनी पुस्तक 'दि लास्ट मुगल' में डेवीज़ को यह कहते हुए उद्धृत किया है : 'कब्र की हिफाज़त के लिए उससे काफी दूर बाँस की डंडियों की बा लगा दी गयी। जब तक बा पुरानी प े गी कब्र की जगह फिर से घास उग आयेगी और ऐसा कोई अवशेष नहीं रहेगा जिससे यह पता चल सके कि किस जगह महान मुगल शासकों में से आखिरी की कब्र कहाँ रही होगी।'

ज़ाहिर है कि अँग्रेज़ों को हिन्दुस्तान के लोगों के मन में बहादुर शाह ज़फर के प्रति भावनात्मक लगाव तथा उनके प्रतीकात्मक महत्व का अहसास था। लेकिन इतिहास ने डेवीज़ और ब्रिटिश राज दोनों को ही गलत साबित कर दिया। लोग न तो कब्र को भूले और ना ही मज़ार को भुलाया जा सका। यह मक़बरा आखिरी मुगल बादशाह के स्मारक के रूप में आज भी खा ा है। वही बादशाह जो अकबर और शाहजहाँ जैसे महान मुगल शासकों का वंशज था।

यांगून (रंगून) में यह मज़ार बादशाह, उनकी बेगम और उनकी पोती की आखिरी आरामगाह है। लेकिन यह बात ध्यान देने की है कि भूमितल पर तीन कब्रों में से केवल दो असली मानी जाती हैं। तीसरी, यानी बादशाह की कब्र दिखावटी है। उनकी असली कब्र भूमितल के नीचे है जिसका पता १९९१ में मज़ार के जीर्णोद्धार के लिए खुदाई के दौरान चला। इसकी पहचान १९वीं शताब्दी में

इस्तेमाल की जाने वाली विशेष प्रकार की ईंटों और बादशाह को दफ़नाने की जगह के बारे में कैप्टन डेवीज़ द्वारा दिये गये विवरण से हुई।

स्थानीय मुस्लिम समुदाय के लोगों के लिए यह इबादतगाह है जहाँ रोज़ाना नमाज़ पढ़ी जाती है और खास मुकद्दस मौकों पर ब ी तादाद में जायरीन इकट्ठा होते हैं। बादशाह का वली यानी संत के रूप में सम्मान किया जाता है और माना जाता है कि उनके पास विशेष आध्यात्मिक शक्ति है। उनकी बरसी पर तीन दिन का ब ा उर्स मेला लगता है जिसमें जायरीन के लिए लंगर लगाया जाता है और कव्वाली का कार्यक्रम आयोजित होता है।

कहा जाता है कि बहादुर शाह ज़फर चिश्तिया सूफी परम्परा (तरीका) के परम भक्त थे और बाद में वह खुद भी आध्यात्मिक मार्गदर्शक बन गये। ज़फर अपने प्रसिद्ध रहस्यवादी काव्य के लिए भी जाने जाते हैं जो 'श्रोता के मन को उद्वेलित कर उसमें पश्चाताप की भावना उत्पन्न कर आत्मा में दिव्य ज्योति प्रज्ज्वलित कर सकती है।' यह भी माना जाता है कि उनकी काव्य रचनाओं में भविष्य की घटनाओं के बारे में पूर्वानुमान भी बताये गये हैं।

आम भारतीयों के लिए यह मज़ार एक राष्ट्रीय स्मारक है जो उपनिवेशवाद से पहले के अविभाजित भारत का स्मरण कराती है। यह ऐसे बादशाह की याद दिलाती है जिसने औपनिवेशिक आक्रांताओं के विरुद्ध संघर्ष का नेतृत्व किया भले ही उनकी यह मुहिम नाकामयाब ही क्यों न रही हो। लेकिन इस मज़ार को राष्ट्रीयता का तीर्थ और यादगार स्मारक बनाने का श्रेय तो भारत के स्वतंत्रता आंदोलन के सिरमौर नेताजी सुभाष चंद्र बोस को जाता है। दूसरे विश्व युद्ध के दौरान उन्होंने अपनी आज़ाद हिन्द फौज का मुख्यालय यांगून को बना लिया था और वह रोज़ाना इस मज़ार में जाते थे। उन्होंने 'दिल्ली चलो' का प्रसिद्ध आह्वान यांगून से ही किया और शायद मज़ार में जाने के बाद।

१९४९ में दिल्ली में बहादुर शाह ज़फर स्मारक समिति ने प्रस्ताव रखा कि बादशाह के पार्थिव अवशेषों को दिल्ली लाया जाना चाहिये। लेकिन इस बारे में सहमति नहीं बन पायी। प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू ने निर्णय किया कि भारतीयों की राष्ट्रीय भावनाओं के प्रति म्यांमार के सम्मान पर भारत के विश्वास के प्रमाण के तौर पर ये अवशेष यांगून में ही रखे जाने चाहिए।

प्रधानमंत्री नेहरू और म्यांमार के प्रधानमंत्री ऊनू के शासनकाल के दौरान एक सुझाव यह भी आया कि म्यांमार के नरेश थिबौ के अवशेषों को रत्नागिरी से म्यांमार भेजा जाए और वहाँ से मुगल बादशाह के पार्थिव अवशेषों को भारत लाया जाए। लेकिन दोनों देशों के प्रधानमंत्रियों का विचार था कि ये स्मारक दोनों देशों की साझा ऐतिहासिक और सांस्कृतिक विरासत का अंग हैं और ये जहाँ कहीं भी स्थित हों, इनका ठीक से रख-रखाव किया जाना चाहिए।

यांगून से नेताजी के 'दिल्ली चलो' के शंखनाद की याद में और अंतिम मुगल बादशाह को श्रद्धांजलि के साथ-साथ भारत और म्यांमार के बीच महत्वपूर्ण ऐतिहासिक संबंधों के उदाहरण के रूप में यांगून में भारतीय दूतावास एक दिलचस्प परम्परा का पालन कर रहा है जिसकी शुरुआत कई वर्ष पहले हुई थी। हर साल भारत के गणतंत्र दिवस (२६ जनवरी) और स्वतंत्रता दिवस (१५ अगस्त) को यांगून में भारत के राजदूत और अन्य अधिकारी विधिवत् मज़ार का दौरा करते हैं, बादशाह को पुष्पांजलि अर्पित करते हैं और मज़ार की प्रबंधन समिति के साथ विचार-विमर्श करते हैं। एक पत्रकार का इस बारे में कहना है : "इन यात्राओं से यह बात स्पष्ट है कि भारत ने अपने 'आखिरी बादशाह' को हासिल कर लिया है - कम से कम आत्मिक रूप से तो उन्हें पा ही लिया है। उनकी मौत के १२५ साल बाद ज़फर को भारत के आखिरी बादशाह होने का सम्मान दिया जा रहा है।"

पिछले वर्षों में भारत सरकार ने म्यांमार के अधिकारियों की पूर्ण सहमति और प्रोत्साहन से मज़ार के जीर्णोद्धार और अनुरक्षण में मदद की है।

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् ने भी एक अनोखा योगदान किया है; इसने कई प्रसिद्ध कव्वाली मंडलियाँ वहाँ भेजी हैं जिन्होंने मज़ार पर अपनी प्रस्तुति से हजारों संगीत प्रेमियों का मनोरंजन किया है।

जो व्यक्ति खुद एक संवेदनशील शायर रहा हो उसके लिए यह सबसे उपयुक्त यादगार और मान्यता है। अपने ही वतन में अपनों के बीच दफ़नाये जाने के लिए दो गज़ ज़मीन न मिलने की जिस कसक और पी ा का ज़फर ने अपनी शायरी में ज़िक्र किया है उससे भला किसका दिल नहीं पसीज जाता :

"कितना है बदनसीब ज़फ़र दफ़्न के लिए
दो गज़ ज़मीन भी न मिली कू ए यार में।"

इसी के प्रत्युत्तर में यांगून के एक कवि ने यादगार पंक्तियाँ लिखी हैं :

"दो गज़ ज़मीन गर ना मिली तो क्या मलाल
खुशबू ये कू ए यार है इस यादगार में।"

म्यांमार की यात्रा करने वाले विशिष्ट भारतीय अतिथियों के यात्रा कार्यक्रम में मज़ार के दौरे को शामिल करने की परम्परा सी बन गयी है। जब प्रधानमंत्री स्वर्गीय राजीव गाँधी ने दिसम्बर १९८७ में मज़ार का दौरा किया तो उन्होंने भारत के आखिरी बादशाह के सम्मान में अपने उद्गार ब` ही सटीक शब्दों में लिखे :

"मैं भारत के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के प्रतीक और केन्द्र-बिन्दु को श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ। यह संग्राम जीता जा चुका है। भारत फिर कभी विदेशी दासता का शिकार नहीं होगा। हम अपनी एकता को अपनी विविधता के साथ सुरक्षित रखेंगे; सहिष्णुता, धर्मनिरपेक्षता, और सभी धर्मों के प्रति आदर के अपने उन जीवन-मूल्यों पर हम सदा अपनी निष्ठा रखेंगे जिनकी परम्परा ५००० साल से अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है।"

स्मरण

जवाहर इन्दु

हमारी राह की हर कंकरी, सौभाग्यशाली है।
तुम्हारे पाँव से छूकर बनी, दुर्गा व काली है।।
हमारी ज़िन्दगी भी कुछ, संवर जाये इसी कारण,
इबादत के लिए एक कंकरी, हमने उठा ली है।।
जितनी हो सके अब पीर, कोई भी मुझे दे दे,
ब ी सी कोठरी दिल में, सजाने को बना ली है।।
भले ही लाख तालों में, कोई भी कैद कर रखे,
जो दिल को भा गई वह चीज़, तो मैंने चुरा ली है।।

जमी बर्फ़ का कवच

डा. सुषम बेदी

पच्चीस मंजिली इस इमारत में करीब सौ अपार्टमेंट हैं। हर अपार्टमेंट अपने में एक 'यूनिट' है जिसकी दीवारों के बीच से अक्सर आवाज़ें तो गुज़र जाती हैं लेकिन इन आवाज़ों को दीवारों से कान लगाकर सुनने की जिज्ञासा को बरसों तक ठोक-पीटकर दफ़ना दिया जाता है। अतः उनके होने के प्रति आपत्ति जाहिर करना ही यहाँ के तौर-तरीके के मुताबिक ज्यादा ठीक माना जाता है। हवा और रोशनी के आने-जाने के लिए आगे-पीछे बनी लम्बी-चौ ी शीशे की खि कियाँ भी हैं लेकिन सफेद नायलॉन के पर्दों से उनका ढका रहना ही यहाँ की 'एस्थेटिक्स' की माँग है, और एक वज़ह यह भी है कि कहीं आप उन शीशों के बीच से घर के अंदर न झाँक लें - आखिरकार 'घर' व्यक्ति का निजी घेरा है और कोई उसमें दाखिल हो भी कैसे सकता है। यूँ घरों में रहने वाले इमारत के आसपास तो दीख ही जाते हैं - खासकर लिफ्ट में आते-जाते या उसका इंतज़ार करते हुए। और अक्सर बार-बार दीखने से वो चेहरे एक-दूसरे को पहचानने भी लगते हैं और कभी-कभी यह पहचान काफी दूर तक भी चली जाती है जबकि पहचानने वाले एक-दूसरे को 'बौंयू' (नमस्कार), 'सा वा' (ठीक है), 'वि-सवा बियां' (हाँ, ठीक है) कह कर अपनी पहचान का सुबूत देने लगते हैं। कभी बात बढ़कर थो ी और दूर तक जा पहुँचती है और वे आपस में मौसम बाँटना शुरू कर देते हैं, 'आज बहुत ठंड है' या 'आज हवा बहुत तेज है' या 'आज बर्फ़ गिर रही है' या 'आज सूरज निकला है' - लगभग ऐसे ही चार-पाँच अर्थहीन वाक्यों में सारा संप्रेषण चुक जाता है। एक-दूसरे के करीब आने से जैसे घबराते हैं -'अपने' को औरों से बचाकर रखने में ही 'सुरक्षित' महसूस करते हैं। खुल जाने से उनका 'व्यक्ति' निरावरण होकर नष्ट हो जायेगा। अनीषा को बहुत अजीब लगता है इन सबके बीच। निरावृत्त हो जाने का ऐसा डर भी होता है - यह उसे अपने हिन्दुस्तानी माहौल में कभी जानने का मौका नहीं मिला था। भाई-बहनों के साथ ब े परिवार में पली-बढ़ी, बतियाती, चहचहाती अनीषा यूरोप के इस शहर ब्रसल्स में पहुँचकर हैरान-परेशान-सी उन ठंडे जमे नकली मुस्कान लिये चेहरों को देखती रहती है और उसे लगता है उस ठंड ने उनके भीतर की गर्माहट को भी जमाना शुरू कर दिया है - जैसे इसी ढंग से जिया जा सकता है वहाँ - बिना एक-दूसरे की ज़िन्दगी में हस्तक्षेप करते हुए - स्वतंत्र, मुक्त और अपने में सिकु े हुए. . . .

घर में घुसती है तो बंद दीवारों के घेरे में घुटन धर दबोचती है - शीशे की लम्बी-चौ ी खि कियाँ खोलती है तो स क पर से लॉरियों, कारों, पुलिस और एम्बुलेंस के कान चीरने वाले हॉर्नों का शोर उसके दिमाग की नसें भ भ ा देता है और कान के पीछे की नस में जोर से घ घ ाहट-सी शुरू हो जाती है। चौबीस घंटे स क पर रहने वाले इस शोर से घबराकर वह कभी भी उन खि कियों को खोल नहीं पाती - और यूँ खोलकर जो दीखना है वह तो बंद शीशों से भी दीख जाता है। और देखने को है क्या - मकान या मकानों की छतें, ऊँचे-नीचे, अलग-अलग 'लेवेल्स' पर बने मकानों की छतों पर निकले टेलीविज़न के 'एन्टेना' जो सारे अंतरिक्ष की रेखा को उलझाये हैं। पूरा शहर जैसे आपस में गुत्थमगुत्था हुआ प ा हो। दिमाग में अजीब परेशानी पैदा हो जाती है और पास के मकानों की खि कयों पर प े सफेद पर्दे दीखते खूब झकाझक उजले हैं लेकिन पारदर्शी नहीं हैं. . . .उसे याद आती है अपने मुहल्ले की खि कियाँ जहाँ आमने-सामने वाली खि कियों में ख े होकर जाने कितने ही इश्क-प्यार के किस्सों की शुरुआत हो जाती थी - उसकी अपनी सहेली क्षमा का अनिल से 'ॲफेयर' भी तो ऐसे ही शुरू हुआ था। . . . .और इन खि कियों के बीच से तो हवा तक नहीं गुज़र सकती। इन सब लोगों के बीच जब वह अपने पति को रखती है तो उसे लगता है कि जैसे आज तक उसने जांमिशेल को भी भीतर तक जाना नहीं। पहली बार जब वह उससे दिल्ली में मिली थी तो उसके दिमाग में 'जांमि' के आसपास का माहौल उसका अपना दिल्ली का जान-पहचाना माहौल था. . . .तब उसे इस बात का अहसास नहीं हुआ था कि दिल्ली की गुनगुनी सतरंगी शामों में वह जिस 'जांमि' के साथ बैठी है उसके भीतर कहीं ब्रसल्स की ठंडी कोहरे भरी सलेटी शामें बसी हुई हैं कि वही उसका निजी माहौल है और कि यहाँ का माहौल उसके लिए सहज एक बदलाव था और कि वह

खुद भी उसके लिए एक बदलाव-भर थी - उन पहचानी . . . गोरी ल कियों से हटकर . . . एक गरम गुनगुनी चहकती ल की। उस गरमाहट, चहचहाहट से आदी भी हुआ जा सकता है या वही कभी दूसरे की खीझ का कारण भी बन सकती है - कि उसका सारा अस्तित्व ही 'गारंटिड' लिया जा कर घर के निरीह कोने में प ा रह सकता है . . . इस सबकी कल्पना करने लायक दूरदर्शिता उसमें कभी थी ही नहीं। घर की तमाम मशीनों - कप े धोने की या बर्तन साफ़ करने की - को चलाते-चलाते उसे लगता है कि वह भी एक मशीन बन गई है - इन तमाम मशीनों को चलाने वाली 'मशीन' - बस यही भर रह गई है 'जांमि' के लिए।

ब्रसल्स आकर उसने नौकरी नहीं की थी - नौकरी पाना यूँ आसान भी नहीं था और ऐरे-गैरे कामों को करने में तो अभी भी उसके संस्कार आ े आते हैं और फिर सबसे ब ी बात कि वह 'जांमि' के साथ घर बसाना चाहती थी। कितना गर्व था उसे अपने जांमि पर। जब वह उसे अपने पापा से मिलवाने ले गई थी तो कितना 'हैंडसम' लग रहा था, पापा को उसने तैयार तो पहले से ही किया हुआ था। उन्होंने अनीषा से कहा भी था - बेटी, हमारी वैल्यूज़, संस्कार, रहन-सहन में ब ा फ़र्क होता है, बाद में चलकर छोटी-छोटी बातें ही झग ों का करण बन बैठती हैं, अभी तुम रोमानी दुनिया में हो, लेकिन याद रखना रोमांस जहाँ ख़त्म होता है वही ज़िन्दगी शुरू होती है। शादी का सोचती हो तो बहुत सोच-समझ कर कदम उठाना। कहाँ सुनी थी उसने पापा की - तब तो परिवार-भर में इस बात का फख्र करती थी कि कितनी हटकर है वह आम दुनिया से, फॉरनर से शादी कर रही हूँ। फिर कोई ऐसा-वैसा नहीं, जर्मन 'फर्म' में असिस्टेंट मैनेजर है, यहाँ दो साल की पोस्टिंग थी एक 'कोलैबोरेशन' में। तीन महीने बाद ब्रसल्स वापस लौटना है, फिर दोनों साथ वहीं रहेंगे।

और वहीं रहती है वह अब . . . पिछले दस सालों से। जांमि घर आता है, हाथ-मुँह धोकर, ड्रिंक लेकर टेलीविज़न के सामने बैठ जाता है। दिनभर का दफ्तर से थका लौटा जांमि . . . अनीषा को उससे बात करने में भी घबराहट महसूस होती है कि दफ्तर की थकान उस पर झल्लाहट न बन बैठे . . . फिर जांमि को अपने टेलीविज़न देखने में भी 'डिस्टरबेंस' पसंद नहीं। कुछ देर बाद दोनों खाना खाते हैं ज्यादा टेलीविज़न देखते हुए ताकि बातचीत की अनुपस्थिति खटके नहीं . . . फिर 'ट्विन बेड' पर साथ लेट जाते हैं दोनों, अक्सर सेक्स भी करते है - ठीक उसी तरह से जैसे खाना खाते हैं, ब े निर्विकार भाव से, चुंबनों का आदान-प्रदान भी हो जाता है - मरे-मरे आवेगहीन, स्वादहीन वे चुंबन . . . 'फ्रोज़न मीट' के टुक ों को जैसे बिना गर्म किये ही मुँह में डाल लिया जाए। और फिर दोनों पासा पलटकर पलंग के दोनों किनारों पर सो जाते हैं . . . इस बीच अगर कुछ बातें होती भी हैं तो बहुत बेमतलब जिन्हें कहे बिना भी चल सकता है। जांमि आदत के अनुसार पूछ तो लेता ही है, 'कुछ खास बात?' और वह भी हमेशा कह देती है, 'नहीं, कुछ खास बात नहीं।' और खास कुछ होता भी तो नहीं - रोज़ वही एक-सी रुटीन की बातें या ज्यादा से ज्यादा बच्चों की छोटी-मोटी समस्या पर कुछ कह-सुन लिया जाता है। इस बीच अगर वह कह देती है कि 'आज सिर में बहुत दर्द है' या 'आज कान के पीछे बहुत ज़ोर से ढक-ढक होती रही' तो जांमि ब े निरुद्विग्न भाव से जवाब देता है, 'कल सुबह डॉक्टर को दिखा देना।' वह और भी खीझ उठती है। कितनी बार तो दिखा चुकी है डॉक्टर को। वही कुछ घंटों का आराम देने वाली दवाइयाँ जिनका बाद का असर उसे और भी बीमार बना देता है, देह-दिमाग में अजीब सुस्ती और थकान भर देता है और फिर दिनभर कुछ भी करने को मन नहीं होता, थो ा-बहुत घर का काम करती है तो उसी में निढाल-सी होकर बिस्तर पर प जाती है - किसी भी काम में मन नहीं लगता उसका। यूँ भी घर के काम करते-करते ऊब गई है वह इस सबसे। रोज़-रोज़ वही खाना पकाना या 'वैक्यूम-क्लीनर चला देना, या कप े और बर्तन धोने की मशीने भर कर चलाना और फिर स्कूल से आने वाले बच्चों और दफ्तर से आने वाले पति का इन्तज़ार . . . । दोनों बच्चे भी जांमि की तरह घर आते ही टेलीविज़न के सामने बैठ जाते है। सात बजते ही जबर्दस्ती उन्हें वहाँ से उठाती है और वे नहा-धोकर, खाना खाकर सो जाते हैं - अगले दिन फिर सुबह-सुबह उन्हें स्कूल भेजना होता है और उनके बाद जांमि को . . . नौ बजे तक घर खाली हो जाता है, दो-तीन घंटे घर का काम निपटाने में लग जाते हैं और फिर वही सिर का दर्द या कान के पीछे की नस की घ घ ाहट शुरू हो जाती है . . . पहले ये दर्द नहीं होते थे। दूसरे बच्चे के पैदा होने के साल भर बाद ही उसके कान में तीखा दर्द होना शुरू हुआ था, बार-बार उठता था

दर्द, सुनता भी ठीक से नहीं था और डॉक्टर ने उस भयंकर शोर करने वाली मशीन की आवाज़ कान में देकर उसके कान के इलाज़ की कोशिश की थी। तभी से वह शोर उसके कान की नसों में घुसकर बैठ गया है, अक्सर बहुत देर तक कान के पीछे की नस से ढक-ढक की आवाज़ होती रहती है और वह बहुत बेचैनी और त पन महसूस करती है। जांमि कहता है कि यह सब 'साइकोलॉजिकल' है। डॉक्टर 'कम्पोज़' जैसी सुन्न कर देने वाली अलग-अलग नामों की दवाइयाँ या इंजेक्शन देकर उसे शांत कर देते हैं लेकिन वह शोर तो जैसे नसों के रेशे-रेशे में बस गया है, फिर-फिर उभर आता है। इस शोर को लेकर वह ज़रा-सी भी तीखी आवाज़ के प्रति काफी असहनशील हो उठी है। शहर तो दूर, स क पर जाने में भी घबराती है, शापिंग भी जांमि इसी से ज्यादातर खुद ही करता है। स क पर लगातार गा याँ गुज़रती ही रहती हैं और कभी अगर चली जाती है स कों पर तो लगता है जैसे शोर नसों को छेद देगा और वह भाग ख ी होती है घर की ओर. . . घर जो कि हमेशा बंद रहता है। शोर तो क्या, वहाँ हवा का हल्का-सा झोंका भी दाखिल नहीं हो सकता और घुटैले घर में वह दवा खाकर लेट जाती है। बस लेटी रहती है, बार-बार उठकर फिर-फिर लेट जाती है, जिस्म में ऐसी सुस्ती छायी रहती है कि कुछ काम होता ही नहीं। तन्दुरुस्त महसूस करने या मन बहलाने के लिए कुछ खा लेती है तो और भी भारीपन महसूस होने लगता है। फिर बार-बार खाने से वह मुटियाने भी लगी है। पिछले चार सालों में वह पचास से सत्तर किलो पर पहुँच गयी है, डॉक्टर बार-बार वज़न घटाने के लिए कहता है, जांमि भी याद दिला देता है लेकिन कैसे घटाये वह वज़न? दिनभर की सुस्ती, ऊब, सिर का दर्द, कान की नस की घ घ ाहट - सिर्फ़ 'खाना' ही उसका 'इस्केप' हो जाता है। नहीं खाती तो उसे लगता है उसमें ताकत ही नहीं रही और वह और भी निढाल हो जाती है। इतने बरस हो गये इस अपार्टमेंट में रहते - लेकिन अब तक एक भी सहेली नहीं बन पायी। घर में ज्यादातर बंद रहती है और उसे लगता है यहाँ के लोग ज्यादातर घरों में ही बंद रहते हैं - बाहर स कों पर घूमते हुए भी 'बन्द'। कभी अगर हल्का-सा करीब आयी भी तो अपने रहन-सहन पर भाषण ही सुनने को मिले हैं और वह फिर खुद ही कटने लगती है. . . . इतना 'सुपीरियर' आखिर किसलिए समझते हैं ये लोग अपने को. . . कभी सोचती है लौट जाये अपनी दिल्ली में, लेकिन कितनी दूर आ चुकी है. . . . और लौट जाने को घर भी कहाँ है. . . . सब अपने-अपने में. . . . भाभियों पर कैसे बोझ बन जाये. . . . अब तो उसे लगता है कि शोर और सूनेपन के दो ओर-छोरों के बीच ही उसकी ज़िन्दगी है। इससे बाहर होके खुलने या चहचहाने वाली दुनिया उसके अंदर ही लाश बनी बदबू छो ने लगी है और वह भी नकली मुस्कान चेहरे पर लाकर पहचाने चेहरों से 'बौंयू', 'सा वा' कहती रहती है और वैसे ही पूछे जाने वाले सवालों का जवाब देकर चुप ही रहती है - ठंडी, जमीं बर्फ़ का कवच उसने खुद पहन लिया है. . . . और उसी में सुरक्षित महसूस करती है अपने को. . . . दूसरों के सामने नंगा हो जाने का डर अब उसका अपना डर बनता जा रहा है।

ग़ज़ल

राजेन्द्र बहादुर सिंह 'राजन'

ज़िन्दगी रूप दिखाती है अनेकों देखो,
ज़िन्दगी ग़म भी पिलाती है अनेकों देखो।
विश्व के रंगमंच पर सुबह से शाम तलक,
ज़िन्दगी खेल खिलाती है अनेकों देखो।
कल्पना, बोध औ' संवेदना की कलमों से
ज़िन्दगी ग्रन्थ लिखाती है अनेकों देखो।
कभी अपनाके, दूर करके कभी अपने से,
ज़िन्दगी हुनर सिखाती है अनेकों देखो।
सबक सिखाने के लिए हर एक को 'राजन'
ज़िन्दगी दाँव दिखाती है अनेकों देखो।

साथ

डा. सत्येन्द्र श्रीवास्तव

नहीं अकेला हो पाता हूँ
कोई सदा साथ चलता है

जब अँधियारा गहराता है
सन्नाटा ही बतियाता है
आवाज़ें मरने लगती हैं
अंध   भीतर टकराता है

यादों के जुगनू दिखते हैं
उनका होना भी छलता है

धुंध कुहासा बढ़ जाता जब
कफ़न रात का चढ़ जाता जब
तब अन्दर भीतर का सब कुछ
पाने लगता सबका मतलब

आँखों की आँधी में तब भी
दीप अटारी का जलता है

लगता अंतिम नहीं कहीं कुछ
चीज़ चीज़ से जु ी हुई है
दृष्टि जहाँ तक जाती लगता
हर पगडण्डी मु ी हुई है

फिर जग का हर सीधा टेढ़ा
जैसा है भीतर पलता है

खुद का साथ - वही अंतिम है
बस एहसास तेज - मद्धिम है
हो जिस थल वो ही है - उत्तर
दक्षिण पूरब औ' पश्चिम है

जीवन जीना एक नशा है
नई बोतलों से ढलता है

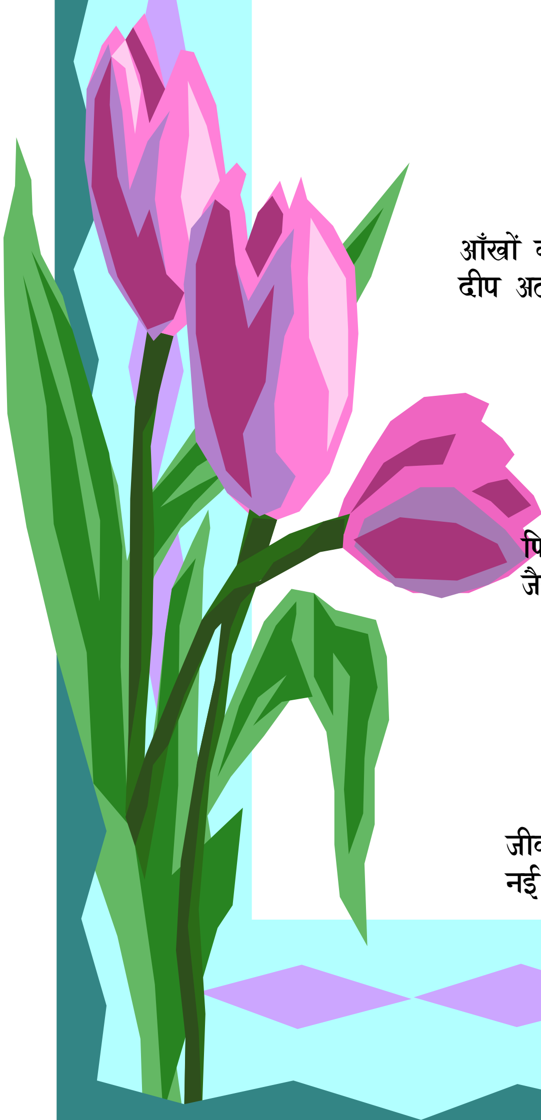

वह आया था

डा. कुसुम अंसल

उस समय आकाश गहरा नीला था, हवा बर्फीली और ची के पत्तों की कमज़ोर महक से रुँधी हुई थी। हिमाच्छादित उस ऊँचे शिखर पर जहाँ तक दृष्टि जाती थी बस एक सफेद बर्फ की परत के अतिरिक्त कुछ भी दिखाई नहीं प ता था, न कोई पे , न कोई हरी-भरी झा ी - कुछ भी नहीं। हाँ कहीं-कहीं कोई गठीली, पथराई-सी चट्टान बर्फ की चादर से सिर उठाए अवश्य दीख जाती थी। उस दिन तो सूरज भी जैसे वहाँ आने से कतरा रहा था तभी तो एक धुंध भरा मद्धम प्रकाश जैसे-तैसे उस स्थान को रोशन करने में जुटा था। उस वातावरण से बेखबर बर्फ के एक टीले पर वह आलथी-पालथी मारकर बैठा हुआ था। उसके हाथ में लक ी का एक नुकीला-सा टुक ा था जिससे वह बर्फ की गहरी पर्त को कुदेरने के प्रयास में लगा हुआ था। उसका लक ी का वह टुक ा उस कार्य के लिए पर्याप्त नहीं था फिर भी वह जी-जान से अपनी खुदाई में व्यस्त था। उस तेज़ हवा की ठिठुरन, गहरी ठण्ड, रुई की नर्म फुनगियों-सी गिरती बर्फ सभी से अनछुआ वह, अकेला ही तत्परता से अपनी खोज़ में तल्लीन परिश्रमरत था। कभी-कभी उस लक ी के प्रहार की कमज़ोर-सी ध्वनि, वहाँ की थमी हुई हवाओं में छपछपाने लगती थी, ऐसे जैसे कोई उथले पानी में पैर रखता चला आ रहा हो।

'अरे....कौन हो तुम....क्या कर रहे हो यहाँ?'

जाने कहाँ से सन्नाटे को तो ती एक आवाज़ हवाओं में तैरती उसके पास आकर ठहर गई।

उसने सिर उठाया, तो चेहरे पर एक पथराया-सा भाव था, वैसा जैसा तपस्या भंग होने पर किसी समाधिस्थ संन्यासी का होता है....निर्विकार, शुष्क और शून्यत्व में घुला हुआ।

'मैं....अपनी सेना का एक जवान....'

'क्या कर रहे हो यहाँ, इतनी ऊँचाई पर, इतनी गहरी बर्फ में....अकेले?'

'तुम....तुम कौन हो....यहाँ कैसे पहुँच गए?'

'मैं, मैं पहा के उस दूसरे किनारे से आया हूँ....वहाँ से जहाँ लोहे की कँटीली बाढ़ सिर ताने ख ी है....'

वह भी तो सिर ताने ख ा था, पहले ने देखा, उसकी सेनानी वर्दी भी जगह-जगह से फटी हुई थी और जिस पर कहीं-कहीं खून के चकत्ते सूख कर काले प चुके थे। चेहरा भी कैसा, जैसे राख मली गई हो, सलेटी, जिस पर पथराई-सी आँखें थीं परन्तु उन आँखों में जुगनू-सा एक जलता-बुझता स्थायी भाव थमा-सा रह गया था....क्या....पता नहीं क्या?

आगन्तुक ने भी पहले जवान को ध्यान से देखा। उसका कोट भी ढेर सारे सुराखों से भरा था, कुछ वैसे सुराख जो गोलियों के आर-पार हो जाने से बन जाते हैं। उसका चेहरा भी तो जीवन्त नहीं लग रहा था, उस पर भी जैसे किसी ने कूची से गहरा पीला रंग पोत दिया था जो ब ा असंगत-सा था। परन्तु उसकी आँखों में भी एक न बुझने वाली चमक थी जो उसके सारे अस्तित्व को एक रहस्यात्मक गर्माहट से भर रही थी।

पहले वाला मु कर फिर से अपनी खुदाई में लग गया। 'खच्च-खच्च' उसकी लक ी का बेकार किनारा अपनी नाकाम कोशिश में कार्यरत था। दूसरे वाले ने पहा ी के एक किनारे पर बर्फ के लम्बोत्तर टीले के पास बैठकर हाथों से थपथपाकर कुछ टटोला और फिर वहीं एक किनारे पर सिर झुकाकर बैठ गया। उसके हाथ में लोहे का एक ब ा-सा कीला था, जो खुदाई के काम आ सकता था, पहले वाले की तरह वह भी उस बर्फ की पर्त तले कुछ पाने की तलाश में खुदाई करने लगा। कुछ समय उन दोनों का खोदा-खादी में बीत गया, एक-दूसरे से बेखबर वे अपने-अपने अनुसंधान में व्यस्त रहे फिर अचानक ही वे दोनों एक साथ उठे और एकाएक आमने-सामने ख े हो गए -

'तुम क्या तलाश रहे हो यहाँ?' दूसरे ने पूछा।

'मेरा कुछ है यहाँ जो दबा रह गया है।' पहले ने कहा।

'अच्छा....मेरा भी....पर अब तुम यहाँ कैसे?' दूसरे ने फिर पूछा।

'जानते तो होगे तुम, यह कारगिल का वही पहा ी इलाका है जहाँ कुछ समय पहले ल ाई हुई थी।'

हाँ, जानता हूँ, मैं भी तो शामिल था उसमें।'

'अच्छा तो तुम भी क्या मेरी तरह शहीद....?'

'चलो अपना काम खत्म कर लें, वापस लौटना है मुझे, किसी की नेकनामी का सवाल है।' दूसरा उसकी बात काटकर मु गया था।

'अगर तुम्हारा काम खत्म हो जाए तो अपनी लोहे की कुदाली मुझे दोगे, मेरी लक ी तो काफी बेकार हो चुकी है....'

'ठीक है।' दूसरे वाला मु कर फिर से अपने काम में व्यस्त हो गया।

कुछ समय और निकल गया, पहले वाले की लक ी तब तक टूटकर दो टुक` हो चुकी थी, परन्तु उसकी खोज थी जो अभी तक पूरी गहराई में नहीं उतर पाई थी। वह उठकर ख ा हुआ और ल ख ाते कदमों से चलता दूसरे के पास पहुँचा तो भौचक्का रह गया। दूसरे वाले ने बर्फ से तराश कर जिसे निकाला था वह एक मृत सैनिक का जिस्म था, दूसरा आश्चर्य यह था कि उसका चेहरा, कद सभी कुछ हूबहू वैसा ही था जैसा वह खुद था। वैसे ही फटे तार-तार कप`, चेहरा राख-राख जिस पर वैसी ही मेल खाती मुर्दनी छाई हुई थी।

'कौन है ये तुम्हारा जुडवाँ भाई?' कितनी सामान्यता है इसकी तुम्हारे साथ और कप` भी तो....?'

दूसरा कुछ नहीं बोला, उसने मु कर अपनी लोहे की कुदाली उसे पक ा दी।

'यही चाहिये था न तुम्हें....लो अपना काम खत्म कर डालो।' उसकी आँखों के जुगनू तब भी चमचम कर रहे थे....कुछ पूछने की गुंजाइश नहीं थी।

'हाँ' पहले वाला कुदाल उठाकर अपने छो` हुए स्थान पर चला गया, इस बार खुदाई आसानी से मुकम्मल हो गई और वह जल्दी ही अपनी वांछित वस्तु पाने में सफल हो गया था। उसने बर्फ की परत से खींच कर एक दोनाली बंदूक को बाहर निकाल लिया था और जेब से रूमाल निकाल कर ब` प्यार से उसे पोंछ रहा था। दूसरा जवान तब तक उसके बहुत निकट आ ख ा हुआ था। जाने कब से ख ा था, ताज्जुब न तो उसे उसकी साँसों की गर्माहट महसूस हुई थी, ना ही उसकी परछाईं ने उसे छुआ था। वैसे भी सूरज का ढलना, उसके प्रकाश का होना न होना उन दोनों के लिए अर्थवान था ही नहीं।

'कब से ख` हो तुम?' पहले ने अपनी बन्दूक उठाई और पहा की ढलान की तरफ चलने लगा।

'बस अभी ही तो आया था।' दूसरे ने भी उसके साथ कदम मिलाये और वह दोनों पहा के ढलान पर साथ-साथ उतरने लगे। पहले ने देखा, दूसरे के गले में इक लम्बी सुनहरी चेन थी जिस पर स्वर्णिम अक्षरों में 'ओ३म' लिखा हुआ था और जो चमक भी रहा था।

'तुम्हें हासिल हो गया जो तुम्हें चाहिये था?'

'हाँ।'

'और तुम्हें?'

'मुझे भी....' उसने अपनी गले में प ी चेन को ब` स्नेह से छुआ और 'ओ३म' को उँगलियों में उठाकर आँखों से छुलाया....

'ओ३म, पर विश्वास है तुम्हारा?'

'मैं नहीं जानता क्योंकि मैं हिन्दू नहीं हूँ।'

'क्या....' वह ल ख या, पैरों में कुछ फँस-सा गया था।

'सँभलकर' दूसरे ने उसे बाँहों में थाम लिया था....'पैर बचाकर चलो, पता नहीं मेरे जैसे कितने जवान यहाँ अभी भी दफ़न हैं।'

'नहीं भाई, ल ाई में शहीद हुए सभी जवान तिरंगे में लपेटकर ताबूतों में ले जाए जा चुके हैं ताकि उन्हें अपनी वीरता के लिए 'परमवीर चक्र' आदि से सम्मानित किया जा सके।'

'झूठ कह रहे हो तुम, मैं तो तब से यहीं हूँ. . . .तुमने देखा तो था मुझे. . . .मेरे मुल्क के लोग कहाँ ले गए हमें। इतनी मारकाट के बाद कौन-सा इन्कलाब आया? किसके हालात बदले - तुम्हारे मुल्क के या मेरे. . . .?'

'इतनी बर्फ, ठण्डे धुएँ की सर्द रातों में कैसे रहते हो तुम. . . .इतने महीने बीत गए अब तो ल ाई ख़त्म हुए?'

'चलो दिल बहलाने के लिए कोई और बात करें. . . .मेरे कान बंदूकों की आवाज़ें सुनते-सुनते फट चुके हैं, मेरी आँखें गोला-बारूद के धुएँ से अंधी हो चुकी हैं, जिस्म भी छलनी-छलनी हो चुका है . . . .पर दिल में से एक ख़्वाब की मासूमियत अभी तक रुखसत नहीं हुई. . . .बस वही ज़िन्दा है. . .'

'सँभलो. . . .वीर जवान ठोकर नहीं खाते. . . .' पहले ने कसकर दूसरे का हाथ पक लिया. . . .एक गहरी सर्द छुअन जो छुअन भी नहीं थी।

'हाँ, ल ख ाना कोई शहीदी फ़ितरत नहीं है।'

'तुम्हें लगता है सैनिक सही कदम उठाते हैं?'

'उन्हें तो ऊपर से आए हुक्मरानों के ऐलान या ऑर्डर को मानना प ता है - अंज़ाम के बारे में सोचना उनका काम नहीं होता, हमारे लिए उस वक्त जंग एक जुनून होती है बस और कुछ नहीं....'

'तुम्हें नहीं लगता सारी साज़िशें बाहरी होती हैं. . . .नहीं तो क्या अंतर है मुझमें और तुममे; अपनापन, भाषा भी तो कितनी एक जैसी है, फिर क्यों हैं ये ल ाइयाँ, मार-काट क्यों?'

'पता नहीं, क्यों सियासत दूसरी कौमों को मुर्दा समझने लगती है और फिर हमारा मुल्क तो खास तौर पर एक मज़हबी मरज़ का शिकार है। शायद, इसलिए ये ल ाइयाँ खत्म होती हैं फिर शुरू हो जाती हैं।'

'हमारे लिए इन बातों का अब क्या फायदा. . . .'

'हाँ कोरे ख़यालात तो मुर्दों को ज़िन्दा नहीं कर सकते - ख़ैर तुम बताओ, तुम्हारी यह बंदूक बहुत पुरानी मालूम प ती है?'

'हाँ, मेरे दादाजी की है, उन्होंने मेरे पिता को दी थी, और मेरे पिता के शहीद हो जाने पर मेरी माँ ने यह बन्दूक मुझे सौंप दी, ल ाई के दौरान वहीं बर्फ में छूट गई थी, इसे ही तो वहाँ से लाने गया था, उतनी ऊँचाई पर. . . .तीन पुश्तों का शहीदी दस्तावेज़ है यह मेरी दोनाली बन्दूक।' उसने बेहद प्यार से बंदूक को छाती से लगा लिया. . . .'और तुम दोस्त कितना ख़स्ताहाल हो, छलनी-छलनी और मज़े से चले जा रहे हो' - पहले ने उसके हाथ को नर्मी से अपने हाथ में दबाते हुए कहा।

'मुझे, उस तक जाना है न, देखते नहीं यह सुनहरी चेन, मैं भी तो उतनी ऊँचाई पर इसे ही लेने गया था जाने कैसे मेरे गले में प ी रह गई, शायद इसलिए कि उसने अपने हाथों से पहनाई थी।' उसके व्यक्तित्व में कुछ था जो थम गया था, फिर वह मुस्कुराया तो चेहरा, वैसा कुछ, जैसे पत्थरों में दरार प जाती है।

अब तक वह दोनों ढलान से उतर गए थे। ची और साल के वृक्ष अपनी शाखों पर प ी नर्म बर्फ के फाहे उठाये उनके साथ-साथ चल रहे थे, थो ी दूर पे बस्ती के इक्का-दुक्का घर भी नज़र आने लगे थे जहाँ उनके रसे-बसे होने का, जीवन्त होने का प्रतीक थीं कुछ मद्धिम-सी टिमटिमाती बत्तियाँ।

'क्या हम उसके बारे में बात कर सकते हैं?' पहले ने कहा।

'हाँ क्यों नहीं?' दूसरे ने हसरत से कहा, 'वह जो गाँव दिख रहा है न, वहाँ मैं अपनी ट्रेनिंग के दौरान चला जाता था, कभी खाना या ज़रूरत की चीज़ें खरीदने, कभी रात को गश्त लगाने। मैंने तो उसे नहीं देखा था, पर उसने मुझे वहाँ छुपते छुपाते देख लिया था। बस फिर गाँव के उस कोने की एक अकेली कोठरी मेरे छुपने और उससे मिलने की ख़्वाबगाह बन गई। वह पाक औरत थी दोस्त, पर उसे अपना हुस्न छुपाना नहीं आता था. . . .वह खुद मुहब्बत की ख़ातिर मेरे सामने बेनकाब हुई थी और मैं उसके खूबसूरत जिस्म को देख कर पागल हो गया था। उसने अपने घरवालों को कुछ नहीं बताया था, लेकिन मेरा वज़ूद, सरहद के उस पार मेरा मुल्क़, मेरा मज़हब, सभी कुछ हमारे रिश्ते को कुबूल नहीं कर सकता था और उसके बाद जैसे ही ल ाई का ऐलान हुआ मुझे भी अपनी फ़ौज के साथ कारगिल की उन ऊँची चोटियों पर जाना प ा। सिपाही तो ज़ालिम दौ में

शामिल होते ही हैं दोस्त, प्रेम मोहब्बत उनका नसीब नहीं होती,' वह फिर ठहरकर अपनी जुगनू भरी आँखों से उस अपनी ख़्वाबगाह को तलाश रहा था जो उनके प्रेम की गवाह थी।

'चलो, मेरी बात छो ो, अब अपनी कहो, तुम कैसे पहुँच गये यहाँ. . . . ?' दूसरे ने ठहरकर उसके हाथ से अपना हाथ छु ाते हुए कहा।

'मैं जब छोटा था न तब से ही घर की दीवारों पर अपने पुरखों की काली सफेद तस्वीरें देखकर ब ा हुआ था। मेरी माँ बताती थी कि हमारा परिवार देश के स्वतंत्रता संग्राम में बलिदान होता आया है - घर के पुरुष मेरे दादा के दादा, फिर मेरे पिता, वह सभी तो वीरगति को प्राप्त हुए जिसकी गवाही देते घर में बहुत से इनामी सर्टिफिकेट और सम्मान-पत्र शीशे के फ्रेम में मढ़े रखे थे। पहले दादी ने मेरे पिता को, फिर मेरी माँ ने मुझे अकेले ही पाल-पोसकर ब ा किया। सारी उम्र तकलीफों और धनाभाव को सहकर भी वह मुझे देश के प्रति समर्पित होने का बहादुरी का पाठ पढ़ाती रहीं। बस विरासत के रूप में बुजुर्गों की वीरता की दास्तानें और यह बंदूक मुझे सौंप दी थी मेरी माँ ने, और अब जब कारगिल के इस युद्ध में इसे लेकर उतरा तो मेरे वीरगति पा जाने के बाद यह यहीं प ी रह गई। मेरे शरीर को तो उठा ले गये युद्ध से बचे हुए लोग अपने कौमी झण्डे में लपेटकर ताकि मेरी माँ मेरी मृत्यु पर गर्व कर सके।'

'तो यह बंदूक इसीलिए लिये जा रहे हो कि तुम्हारा बेटा तुम्हारे बाद इसे कन्धे पर उठायेगा. . . .' दूसरे ने हमदर्दी से कहा।

मेरी तो अभी तक शादी भी नहीं हुई।'

'हो जाएगी, इंशाअल्लाह बेटा भी होगा. . . .एक क्यों. . . .तुम दो या चार पैदा करना. . . .'

पहले वाला हँसा. . . .चेहरे के पीलेपन में कुछ और गहराया, गहरी शून्यता तक जाता एक टूटता-सा भाव।

'हौसला मत छो ो दोस्त. . . .ख़्वाब देखना, ख़्वाब को मुकम्मल करना ब ा जरूरी होता है. . ख़्वाब ही तो है जो इंसान को काँटेदार दीवार फलाँगकर इतनी दूर ले आता है. . . .उतनी ऊँचाई तक पहुँचा देता है. . . .' उसने मु कर पीछे ख े पहा की ओर इशारा करते हुए कहा।

'जब आदमी मर जाता है तो. . . .तो सपने भी तो मर जाते हैं दोस्त।'

'हाँ. . . .मैं तो भूल ही गया था कि हम दोनों ही जिन्दा नहीं हैं. . . .सॉरी दोस्त।'

वह दोनों एक-दूसरे के गले लग गए, और फिर से हाथ पक कर चलने लगे।

तब तक वह दोनों बस्ती के निकट पहुँच गए थे। 'दूसरा' बस्ती के किनारे वाली छोटी-सी कोठरी की तरफ ब ी फुर्ती से कदम बढ़ा रहा था, 'पहले' वाला भी अपनी बंदूक उठाये उसके पीछे-पीछे चला जा रहा था।

कोठरी की खि की खुली थी, और उसमें से एक औरत के चीखने-चिल्लाने की दर्दीली आवाज़ आ रही थी शायद इसलिए कि वह प्रसव-वेदना से कराह रही थी। उन दोनों ने खि की से झाँककर देखा, कमरे में दो औरतें और थीं जो लालटेन की मद्धिम रोशनी में भी काफी क्रूर लग रही थीं, उन्होंने झम्मकझोल फ़िरन पहन रखे थे। उनके चेहरे पर झुर्रियों के अलावा माँग का सिन्दूर और माथे की बिन्दी जीवन्त थी। बस वह जिस धर्म को मानता था यह जताने के लिए उस कोठरी का वह परिवेश पर्याप्त था। आले में जलता हुआ दीया। दीवार पर पुराना सीता और राम लक्ष्मणी कैलेण्डर फ फ ा रहा था। तभी चन्द्रमा की रोशनी ने खि की से उतरकर कराहती नवयौवना को नरमाई से छुआ और कोठरी के कच्चे फ़र्श पर ब ी कोमलता से फैल गई. . . .काँग ी के बुझते कोयले भी एकाएक भक्क से जलकर चमक उठे. . . .और बच्चे के रोने की आवाज़ कोठरी में गूँजने लगी।

'क्या कोई ऐसी तजवीज़, कानून नहीं है जो हमें इन हुक्मरानों से निज़ात दिला सके, दुश्मनी का ल ाइयों से बाहर निकल आने का रास्ता समझा सके और मैं उसे उठाकर अपने मुल्क ले जा सकूँ. . . .'

'शायद तुम भूल गये दोस्त तुम और मैं उस तजवीज़ और कानून की गिरफ्त से बाहर हैं।'

'ओह हाँ मैं तो भूल ही गया था. . . .उसके चेहरे को देखकर हमेशा की तरह सबकुछ भूल गया था. . . .फिर. . . .वह देखो. . . .मेरा बेटा. . . .मेरा चाँद-सा बेटा. . . .काश मैं उसे गोदी में उठा सकता. . . .'

कोठरी में मोटी औरत जंग लगी कैंची से बच्चे की ना काट रही थी. . . .।

'ठहरो....दाई माँ, कैंची तो साफ लेकर आतीं, बच्चे को कोई बीमारी लगी तो, कितनी पुरानी और जंग खाई है तुम्हारी कैंची।'

'कहाँ से लाती साफ कैंची, गाँव का सारा लोहा तो तोपें, बंदूकें बनाने के काम आ चुका है ....और फिर यह हराम की औलाद, ब्राह्मण की बेटी मुसलमान आतंकवादी का बच्चा....क्या करेगी इसे जिलाकर, होती है तो होने दो बीमारी।' वह क्रूरता से बोली।

'माँ....मैंने उससे शादी की थी....' त पकर नवयौवना माँ का हाथ पक कर.... सिसकने लगी।

'चोप्प....माँ ने उसके मुँह पर हाथ रख दिया, 'नाम मत ले उसका, जाने कहाँ से आया था, हमारे मुँह पर कालिख पोत गया नामुराद....।'

जैसे ही घर की ध कन सामान्य हुई 'दूसरा' चुपचाप भीतर गया....अपनी सोने की चेन बच्चे के गले में पहनाई....आँखें मूँदे प ी उस नवयौवना के माथे पर ब ी हसरत से हाथ फेरा तो साहस करके 'पहले' वाला भी उसके पीछ-पीछे भीतर गया....और अपनी बंदूक बच्चे के कुलबुलाते शरीर के पास धरती पर टिका दी - और एक फौजी सलामी के बाद वह दोनों कोठरी से बाहर निकल आये।

'माँ....माँ, देखो वह आया था....' नवयौवना ने जैसे कुछ महसूस किया था।

'चोप्प' माँ ने हाथ का काम छो कर फिर से डाँटा उसे।

'नहीं, देखो माँ....यह सोने की चेन....मैंने ही तो उसके गले में डाली थी....वह आया था अपने बेटे को चेन पहना गया है....मैं जानती थी वह आएगा....वायदा था उसका।'

'पगला गई है, अखबार में मरने वालों की सूची में पढ़ा था मैंने उसका नाम।'

'झूठ कहती हो माँ, उस मुल्क का अखबार हमारे यहाँ तो पहुँचता ही नहीं।'

'तू चुप नहीं रहेगी, मैं बाहर देखती हूँ कौन आया था यहाँ, आया था तो मुझे पता क्यों नहीं चला?' इस बार माँ हैरान भी थी, सोने की चेन बच्चे के गले में चमक रही थी....और पास में रखी थी एक दोनाली बन्दूक भी। माँ के थके श्रमसाध्य चेहरे पर परेशानी और सामंजस्य का पसीना बह रहा था। उसने काँपते हाथों से कोठरी का दरवाज़ा खोला। बाहर रात गहरा गई थी, आसपास के घरों और पे ों पर अँधेरा एक गहरी दमसाध चुप्पी लिये अपनी रहस्यात्मकता छुपाए पसर रहा था। जंगल सूने और पंछीविहीन थे, अपने को बेसहारा और बेचैन महसूस करते हुए वह सारे के सारे पंछी जाने कहाँ उ गए थे, कँटीली तारों की बाढ़ के इस पार या उस पार, पता नहीं।

हैरान, परेशान माँ ने अपनी मिचमिचाती आँखों से उसे ढूँढने की कोशिश की....अँधेरे में दूर तक सन्नाटे के अतिरिक्त किसी के आने-जाने की कोई आहट नहीं थी। अचानक उसने देखा कोठरी की दीवार से सटे हुए आदमकद राख की उस ढेरी को जो चेहराविहीन, फिर भी कुछ संप्रेषित करती हुई एक आकार विशेष में सिमटी हुई थी और उनके आसपास एक बेहद दुर्बल-सा जुगनू जैसा जलता-बुझता प्रकाश जीवन्त था....नवयौवना भी ल ख ाते कदमों से बाहर आ गई थी....'वह आया था न माँ? मैं जानती थी वह अपना वायदा निभायेगा।' बेहोश होती बेटी को सँभालती माँ....देख रही थी कि राख का ढेर तेज हवा में विलीन होता जा रहा था। खुशबूदार वह राख उनके चेहरे को छूकर उ ` जा रही थी परन्तु, हाँ खाली दीवार पर अब भी कुछ था जो वहाँ थमा रह गया था, एक अनुभवगम्य, सच्चा, अनछुआ, एहसास....प्रेम या प्रकाश....जिसका कोई धर्म नहीं होता और जिसे काँटेदार तारों की कोई बाढ़ या जीवन मृत्यु का कोई नियम अवरुद्ध नहीं कर पाता।

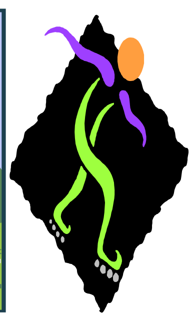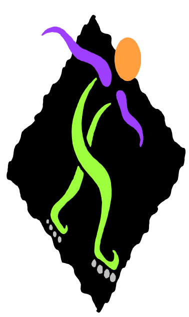

ग़ज़ल

एलिजाबेथ कुरियन 'मोना'

दूरियाँ यूँ मिटा गया कोई
रूहो-जाँ में समा गया कोई
ढूँढती रह गई हूँ मैं खुद को
मुझसे मुझको चुरा गया कोई
हल्के-हल्के से इक तबस्सुम से
ग़म पे चिलमन गिरा गया कोई
मेरी आँखों में देखकर आँसू
अपना दामन बचा गया कोई
अनसुनी रह गई मेरी फ़रियाद
फैसला भी सुना गया कोई
मिलने आया वो सिर्फ़ ख़्वाबों में
यूँ भी वादा निभा गया कोई
सूना-सूना-सा दिल का आँगन है
रूठ कर यूँ चला गया कोई
जीते जी हम पे इतने जुल्म किये
मौत आसां बना गया कोई
पास 'मोना' हँसी नहीं आती
कैसे पहरे बिठा गया कोई

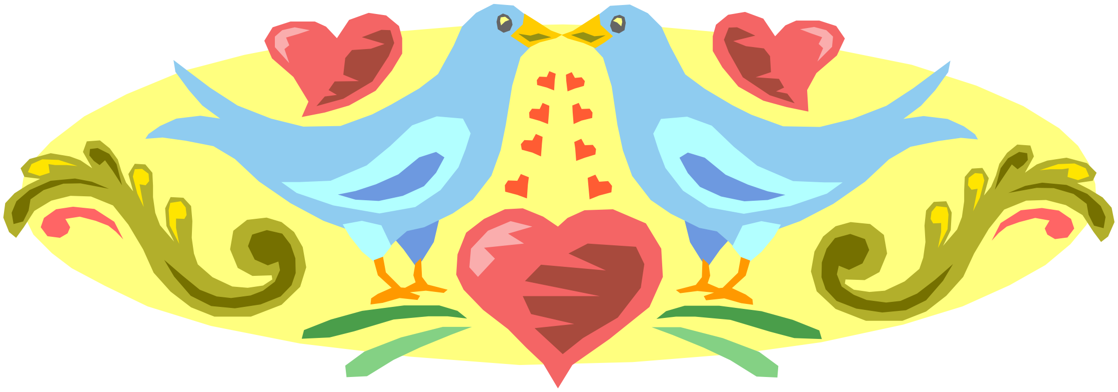

उस पार

बनवारी शर्मा

विरह की इस
दुख भरी रात में
प्रिया,
जब सारी दुनिया मेरा उपहास कर रही है
काले-काले घने मेघ इठला कर
मेरे प्रणय पर हँस रहे हैं
तब,
मैं विरागी तुम्हारे सुन्दर स्निग्ध
नयनों के प्रशांत में डूबा
तुम्हारे विकल मृदुहास से
अपने अन्तःपुर को सींच रहा हूँ।
प्रिया,
मुझे आभास है
उस पार किसी दिगन्त रेखा पर बैठी तुम
मुझे स्मृति-पथ में लाती हो
जिसकी गन्ध का प्रवाह
मेरी आँखों से
नन्हें-नन्हें जल-कण बन कर
मेरे हृदय में प्रतिपल उतर रहा है।

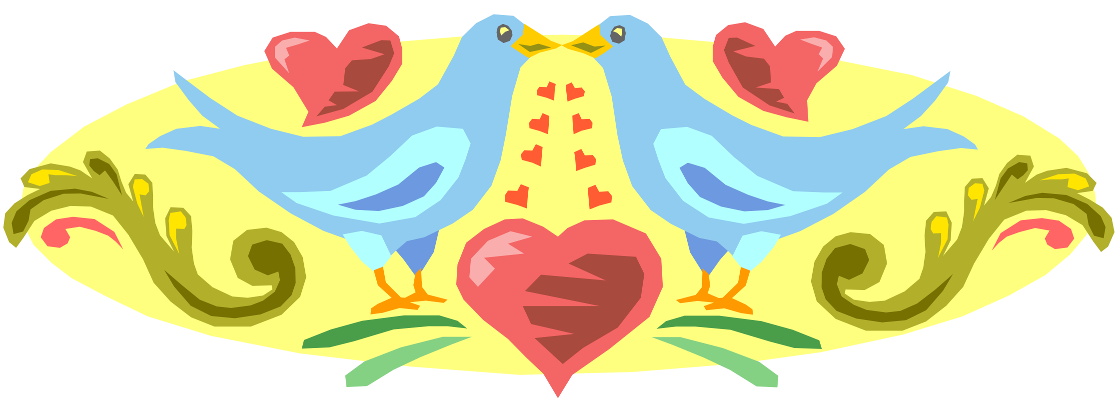

मैं इन्तेहा हूँ कि इब्तेदा हूँ?

डा. रेखा 'रोशनी'

मैं इन्तेहा हूँ कि इब्तेदा हूँ?
तलाश में खुद की गुमशुदा हूँ।

नहीं समझता हूँ मैं खुदा हूँ,
मैं आप अपना ही नाखुदा हूँ।

नज़र से दिल तक उतर जो जाये,
वो दिलनशीं मदभरी अदा हूँ।

वज़ूदो वहमो गुमान से पर,
अलहदा ही, अनकही सदा हूँ।

खुमार ऐसा है दिल पे तारी,
सुकूने दिल का वो मयक़दा हूँ।

भँवर में मैं हूँ, है दम लवों पर,
शिकस्ता कश्ती का नाखुदा हूँ।

अगरचे शामिल हूँ कारवाँ में,
ज़माने भर से मगर जुदा हूँ।

ये तेरी रहमत है 'रोशनी' पर
इनायतों पर तेरी फिदा हूँ।

प्रत्यागमन

डॉ. इन्द्रा भटनागर

दो दिन पूर्व सुकान्त और दूर्वा प्रसन्न थे। स्कूटर खरीदने के लिए वे दो वर्षों से बचत कर रहे थे। दोनों वर्षों में मिले दीपावली बोनस उन्होंने बैंक में जमा कर दिये थे। दोनों ने उस अवसर पर अपने लिए कुछ खर्च नहीं किया था। जब वे अपने-अपने प्राविडेन्ट फंड से रुपये निकालकर स्कूटर खरीदने जा रहे थे कि माँ के छोटे से पत्र ने जैसे भयंकर विस्फोट कर दिया। सुकांत के मस्तिष्क में उन पंक्तियों ने हलचल मचा दी। माँ ने लिखा था बाबू के पेट में बहुत दर्द है। डॉक्टर ऑपरेशन के लिए कहता है। पैंशन से जैसे-तैसे गुज़ारा हो जाता है, परन्तु ऑपरेशन में तो आठ-दस हज़ार खर्च होगा। तुम एक बार आकर डॉक्टर से बात कर लो तो अच्छा है। बाबू का आशिर्वाद।

दूर्वा ने पत्र पढ़कर स्पष्ट कह दिया था कि मुंबई में भी के धक्के खाना उसकी सहनशीलता के बाहर है। 'वह स्कूटर के लिए जमा पैसे खर्च नहीं कर सकती। और यह सारी परेशानियाँ स्वयं तुम्हारी ही बुलाई हुई हैं। स्थानान्तरण से पूर्व जीवन उमंग और खुशियों से भरा था। न चिन्ता थी न परेशानी। तुम्हें ही वैयक्तिक विकास, मुंबई के वातावरण में आधुनिक जीवन जीने की लालसा, आगे बढ़ने के चांसेज़ दिखाई दे रहे थे। तुम्हारी हठ के कारण ही स्थानांतरण करवाना प ा था।' इसी बात को लेकर विवाद बढ़ गया था।

वास्तव में दूर्वा के साथ-साथ सुकांत भी मुंबई नगरी के वातावरण में अपने को एडजस्ट नहीं कर पाया था। तीव्र गति से दौ ती, एक-दूसरे को काटकर अपना रास्ता बनाती भी , बस के धक्कम-धक्का, लम्बी पंक्तियाँ, लम्बी प्रतीक्षा ने उनको थका दिया था। सुबह ऑफिस जाने से पूर्व सुकांत और दूर्वा को सोनू को स्कूल के लिए तैयार कर उसका नाश्ता उसके साथ रखना प ता था, फिर मोनू को भेजने की तैयारी करनी प ती थी, फिर स्वयं तैयार होकर मोनू को भेजकर धक्कम-धक्का के बीच बस में चढ़ना प ता था। लौटते समय मोनू को लेकर लौटना प ता। घर आकर दूध लाना, सब्जी लाना, सोनू को गृहकार्य कराना, एक अतिरिक्त बोझ प्रतीत होने लगते थे। कई बार तो वे इतना थक जाते थे कि खाना भी बाहर से ही ले आते थे। सुकान्त को सबसे अधिक चिन्ता मोनू की थी। उसके लिए आया भी रखी पर वह मोनू का ध्यान तो कम ही रखती थी और घर की वस्तुयों के गायब होने पर उसे निकालना प ा। सोनू के स्कूल की बस उसे एक बजे घर छो जाती थी। प ोस में भाटिया साहब का बच्चा बबलू भी सोनू के साथ ही स्कूल जाता था। विवश होकर उसे वहाँ छो ना प ता था। उस पर कोई नियंत्रण न होने के कारण वह गली के बच्चों के साथ खेलता रहता था जिससे उसकी आदतें भी बिग रही थीं। यह आयु जिसमें अच्छे संस्कार बनने थे, उसे न माँ-बाप का पूरा ध्यान मिल रहा था न प्यार। इसी उपेक्षा को पाकर वह अम्माँ और बाबू को याद करता रहता था। जीवन वास्तव में जीवन न रह कर जैसे निरंतर भाग-दौ का एक लम्बा सिलसिला बन गया था। निरन्तर भाग-दौ से कुछ राहत पाने के लिए ही उन्होंने स्कूटर खरीदने का निर्णय लिया था।

दो दिन से सुकांत अन्तर्द्वन्द्व में उलझा तनाव झेल रहा था। वह जीवन, आधुनिकता की दौ , उससे उत्पन्न अकेलेपन की व्यथा, संघर्ष और हताशा का विश्लेषण कर रहा था। किसी भी देश की संस्कृति उस देश में रहने वालों के जीवन का अभिन्न अंग हैं जिसकी ज ें उस देश की सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियों में गहराई से जमीं हैं। यह देश की विरासत है। इससे कट कर आदमी की पहचान नष्ट हो जाती है। हमारी संस्कृति हमारी आत्मा है परन्तु पश्चिम से आई वैयक्तिकता की आँधी में भारतीय परिवार टूटकर विभक्त हो गया है। आदमी अकेलेपन के अहसास और उसकी यंत्रणा झेलता, परेशानियों के मध्य जूझ रहा है पर इसके लिए दोषी कौन है? पाश्चात्य संस्कृति का संक्रमण आदर्शों और मर्यादाओं को तो ती आज की संवेदनशून्यता जहाँ आदमी अपने से ही कटकर अपनों को ही काटकर, उसकी पी ा झेल रहा है। सुकांत सोच नहीं पाता अपनों के प्रति, अपनों के द्वारा तथा स्वयं अपने पर अत्याचार करके आदमी आधुनिकता की यंत्रणा झेलता कौनसी वैयक्तिकता का विकास कर अपनी पहचान बनाने के लिए प्रयत्नशील है !

उसके पिता साधारण शिक्षक थे। उनके हृदय में अपनी संस्कृति के प्रति अपूर्व निष्ठा और आस्था थी। उसे याद है एक बार माँ बाबू से कह रही थीं, 'सुकान्त के बाबू, आटा बहुत कम रह गया है।'

बाबू ने कहा, 'कल वेतन मिलेगा, आटा लेता हुआ आऊँगा। दोपहर तक तो हो जायेगा?'

'हाँ, कल मेरा उपवास है। आपके और सुकान्त के लिये हो जायेगा।'

सुकान्त देख रहा था बाबू और माँ स्वयं कष्ट झेलते थे, परन्तु वेतन में से गाँव माता-पिता के पास रुपये अवश्य भेजते थे। वह अपने को रोक नहीं सका। उसने बाबू से पूछा, 'बाबू आप चींटियों को, पक्षियों को आटा और दाना क्यों चुगाते हो? स्वयं कष्ट उठा कर गाँव रुपये क्यों भेजते हो?'

उनका उत्तर उसके हृदय में प्रतिध्वनित होने लगा, 'बेटा, हमारे ऋषियों ने अपार विचार मंथन के बाद कहा है कि मनुष्य केवल अपने लिए ही नहीं जीता। उसका जीवन समाज से जु ा है, परिवार से जु ा है, कुटुम्ब से जु ा है और परिवेश से जु ा है। मनुष्य जो कमाता है उस पर केवल उसका ही अधिकार नहीं होता। कुछ अंश वह अपने माता-पिता के ऋण चुकाने में व्यय करता है जिन्होंने उसका पालन-पोषण करके उसे कमाने के योग्य बनाया। दूसरा हिस्सा हम व्यय करते हैं अपने बच्चों को योग्य बनाने में, यह वृद्धावस्था के लिए बच्चों को दिया गया ऋण है। तीसरा हिस्सा स्वयं जीवित रहने और अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति पर व्यय करते हैं तथा चौथा हिस्सा सामाजिक विकास, पशु, पक्षी, वन, उपवन तथा परहित पर करते हैं। यहाँ हम सामाजिकता से जु े हैं। सृष्टि के कण-कण से जु कर हमारे हृदय की रिक्तता भर जाती है।'

सुकान्त सोच रहा था, इन शब्दों में कितनी सच्चाई है।

उसके सामने उसका बचपन घूम गया। उसकी दृष्टि में उसके बाबू संसार के सबसे विद्वान और समर्थ व्यक्ति थे। उनके साथ ही उसने स्कूल जाना आरंभ किया था। उसके पिता उसके बालमन में अच्छे संस्कारों के बीज डालने के लिए प्रयत्नशील रहते थे। स्वयं कष्ट उठाकर भी उसकी उचित इच्छाएँ पूर्ण करने को तत्पर रहते थे। उसे याद है कि एक बार अपने मित्र की वर्षगाँठ देख कर उसने भी हठ ठान ली कि उसकी भी वर्षगाँठ मनाई जाये तथा उसके मित्रों को भी पार्टी में आमंत्रित किया जाये। माँ और बाबू ने उसे बहुत समझाने का प्रयत्न किया। अंत में वह आँखों में आँसू भरे चुपचाप अपने कमरे में चला गया था। पिता उसके आँसू सहन नहीं कर पाये थे। उन्होंने माँ से कहा, 'सुकान्त की वर्षगाँठ मनाने का प्रबन्ध करो। मैं एक ट्यूशन और कर लूँगा।' माँ ने सारे पकवान घर पर ही बनाये थे। सब मित्रों ने स्वाद से खाया था।

बाबू उसकी शिक्षा के प्रति बहुत सतर्क थे। वह अच्छे अंकों में उत्तीर्ण होता रहा। जैसे-जैसे वह आगे की कक्षाओं में चढ़ता रहा, उसका खर्च भी बढ़ने लगा। व्यय पूत्ति के लिए माँ ने भी आसपास की स्त्रियों के ब्लाउज सीने आरंभ कर दिये थे। धीरे-धीरे वह कॉलेज में पहुँच गया। माँ और बाबू ने स्वयं कष्ट उठाकर भी उसका पूरा ध्यान रखा। उसके कप े, जूते, दूध आदि में कभी कमी नहीं होने दी। अब वह समझदार हो गया था। घर की स्थिति समझने लगा था। वह माँ से कहता, 'बस, परीक्षा देकर मैं सर्विस में आ जाऊँ, फिर बाबू को और तुम्हें जरा भी कष्ट नहीं उठाने दूँगा।' सुनकर माँ की आँखें भर आतीं।

प्रथम श्रेणी में बी.ए. करने के बाद बाबू की प्रेरणा से वह सिविल सर्विस कॉम्पटीशन में बैठा। दो बार लिखित परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ, पर साक्षात्कार में सेलेक्ट नहीं हुआ। वह अंदर से टूटने लगा। माँ और बाबू उसका उत्साह बढ़ाने का प्रयत्न करते थे, परन्तु वह हताश होता गया। इन दो-तीन वर्षों में उसकी किताब आदि की खरीद तथा घर के खर्चों की पूर्ति के लिए माँ के पास जो दो-एक गहने थे, वे भी बिक गये थे। यद्यपि माँ उसको बहलाने के लिए टूटने का बहाना बना देती थीं।

वहीं इलैक्ट्रिकल इन्स्टीच्यूट की फर्म थी, जिसका मुख्यालय मुंबई था। फर्म के डायरेक्टर मिस्टर मुखर्जी के बच्चों को बाबू पढ़ाने जाते थे। उनकी परेशानी सुनकर मिस्टर मुखर्जी ने आवेदन पत्र भेजने तथा अपना पूर्ण सहयोग देने का वायदा किया था। वे स्वयं सेलेक्शन बोर्ड में थे। उसको साक्षात्कार के लिए मुंबई बुलाया गया। जाने आने का खर्चा देखकर वह निराश होने लगा। उसे प्रतीत होता था, जैसे वह घर पर एक बोझ बन गया है। उसे याद है माँ ने अपनी चेन देते हुए उससे खर्च की व्यवस्था करने के लिए कहा। पर उसने स्पष्ट इंकार कर दिया। फिर बाबू ने कैसे व्यवस्था की उसे

मालूम नही, परन्तु उसने फिर माँ के गले में चेन नहीं देखी। भाग्य ने साथ दिया। उसे नौकरी मिल गयी। माँ और बाबू की प्रसन्नता का कोई ठिकाना नहीं था। माँ तो भावावेश में रोने लगी थीं।

दूर्वा भी उसी फर्म में सर्विस करती थी। धीरे-धीरे वे कब एक-दूसरे के पास आ गये, पता ही नहीं प ा। बाबू और माँ की सहमति से विवाह हो गया। फिर सोनू हुआ तो माँ और बाबू को तो जैसे खिलौना मिल गया। उनकी देख-रेख और प्यार में वह बढ़ता रहा। उसे और दूर्वा को किसी प्रकार की न चिन्ता थी न परेशानी। दोनों साथ ऑफिस जाते थे, साथ ही लौटते थे। हँसी-खुशी से समय बीत रहा था। फिर तीन-चार साल बाद मोनू आया। आत्मीयता और प्यार भरे वातावरण में समय बीत रहा था कि दूर्वा की हठ के कारण उसे दोनों का स्थानान्तरण मुंबई कावाना प ा। दूर्वा की दृष्टि में परिवार का अर्थ केवल पति, पत्नी और बच्चे थे। परिवार के मुख्य अंग माता-पिता, उसके लिए अर्थहीन थे। परिवार के एक अंग को काटकर उन्होंने स्वयं ही तो निर्वासिन स्वीकार किया था और उस निर्वासिन से उत्पन्न संघर्ष और अकेलेपन की यातना झेल रहे थे।

आज बाबू रोग-शैय्या पर प े हैं। उसके आगे चिन्ता से भरा माँ का चेहरा घूमने लगा। उसे याद आया, एक बार वह बीमार प ा था। बाबू ने स्कूल से अवकाश ले लिया था। चिन्तातुर माँ दिन-रात उसकी शैय्या के साथ जागती बैठी रही थी। आज भी चिन्तित दुखी माँ उसी प्रकार कातर दृष्टि से बाबू की ओर देखती बैठी होगी। उसने कमाने के बाद कौनसा सुख दिया। माँ को या बाबू को. . . .।सहसा सोनू के रोने से उसका ध्यान भंग हुआ।

कुछ दिन पूर्व कमरे में खि की की सिल पर गौरेय्या घोंसला बना रही थी। सुकान्त और दूर्वा ने दो-तीन बार तिनके बाहर फेंके परन्तु वह फिर तिनके इकट्ठे करके घोंसला बनाने में जुट जाती थी। इस बार सोनू ने हठ करके घोंसले के तिनके नहीं हटाने दिये। जिस दिन उसने घोंसले में अंडे देखे, उस दिन तो वह खुशी से नाचने लगा। धीरे-धीरे अंडे में से बच्चे निकलने लगे। उसके लिए तो यह जैसे ब्रह्मांड का रहस्य था जो उसे सम्मोहित करता प्रकट हो रहा था। सुकांत को भी उसकी खुशीं में साथ देना प ता था। बच्चों को फुदकते हुए चि िया चिरौटे द्वारा उनके मुख में दाना देते हुए देखकर, कभी चकित और कभी हर्षित होता। आज जब उसके घोंसले में एक भी बच्चा नहीं देखा, तो उसे लगा जैसे उसका अद्‌भुत रहस्यात्मक लोक ध्वस्त हो गया। वह रो-रोकर सुकान्त को पुकार रहा था।

सुकान्त ने सोनू को प्यार करते हुए कहा, 'बेटा ! जब बच्चे ब े हो जाते हैं और उ ना सीख लेते हैं, तो उ जाते हैं।'

'उ कर कहाँ जाते हैं, पापा? उनकी मम्मी चि िया और पापा चिरौटा जब दाना लेकर आयेंगे तब उन्हें न देखकर खूब रोयेंगे। उन्हें बच्चो की याद आयेगी।'

'वे उ कर अपने लिए नया घोंसला बनाएँगे। फिर अंडे देंगे, फिर बच्चे होंगे, फिर उ ना सीख कर वे भी उ जायेंगे नया घोंसला बनाने के लिए।'

'जैसे आप और मम्मी बाबू और अम्माँ को छो कर यहाँ नया घर बसाने चले आये। पापा ! क्या ब े होने पर मुझे और मोनू को भी अपना घोंसला बनाने के लिए मम्मी और आप को छो कर दूर जाना प ेगा? क्या आप रोयेंगे? याद करेंगे जैसे बाबू और अम्माँ करते हैं?'

सोनू की बात सुनकर सुकांत चुप ख ा रह गया, परन्तु सोनू की बात ने उसे अनिश्चय और अन्तर्द्वन्द्व के जाल से निकाल कर सोचने और निर्णय लेने के लिए नई दिशा की ओर संकेत कर दिया।

उसने निर्णय ले लिया कि परिवार के एक अंग से कट कर, ममता, स्नेह और आशिर्वाद की शीतल छाया छो कर, वे अकेलेपन की यातना नहीं झेलेंगे। सोनू का शैशव माता-पिता के प्यार से रिक्त संस्कारहीन हो रहा है। मोनू ममताराहित वातावरण में पल रहा है। नहीं, वह अपने घोंसले की ओर वापिस लौटेगा जहाँ प्यार है, सुरक्षा है, अपनापन है और माँ-बाप के आशिर्वाद की शीतल छाया है। उसने दूर्वा को पुकारा और दृढ़ता से कहा, 'दूर्वा हमारी समस्या का निदान स्कूटर नहीं पारिवारिक आत्मीयता है। आज अर्थतंत्र के इस विसंगत वातावरण में हमें परिवार के एक अंग माता-पिता की महत्ता स्वीकार करनी प ेगी। वैयक्तिकता की हमारी संस्कृति की सामाजिकता से हमें जु ना प ेगा। मैं प्रोविडेन्ट फंड से रुपये निकलवाकर कल ही पन्द्रह दिन का अवकाश लेकर बाबू के पास जा रहा हूँ। माँ और बाबू को ही नहीं हमें भी माँ और बाबू के प्यार की आवश्यकता है। सोनू और मोनू

के शैशव को संस्कारयुक्त करना है। अपनों के होते हम निर्वासिन की यातना क्यों झेलें। पन्द्रह दिन में प्रयत्न करके अपना स्थानान्तरण वहीं कराना है।'

इस बार दूर्वा ने प्रतिरोध नहीं किया। वह एक ज्वलंत सत्य से परिचित हो गई थी। परिवार 'हम दो हमारे दो' तक ही सीमित नहीं है। इस अर्थार्जन के युग में नयी पीढ़ी के विकास के लिए माता-पिता भी परिवार के महत्वपूर्ण अंग हैं।

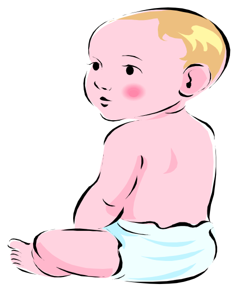

पिता

स्नेह ठाकुर

आज मैंने जाना
क्या होता है पिता
काश पहले जान लेता
और उन्हें कह देता
जो अब सोच रहा
काश,
वो पहले महसूस कर लेता
पचास की वयःसंधि पर
आई यह अकल
प ी जब परिस्तिथियों की मार
क्या होता है पिता का स्थान
अपना सब कुछ लुटा देता
गर पिता,
कुछ क्षणों के लिए ही पा लेता
अगर आज पिता मिल जाते
तो मिलकर ये गुत्थी सुलझाते
आज जाना,
वो कितने स्मार्ट थे
बुद्धिमान, व्यवहार-कुशल थे
असंख्यों में एक थे
न जाने कितना
सीख सकता था मैं उनसे
आज,
देख रहा हूँ अतीत
मुँदी आँखों के सामने गुज़र रहा है चल-चित्र-सा
था जब चार वर्ष का
सोचता था मेरा पिता
है समर्थ करने में सब कुछ

अगले साल सोचा
जब स्कूल गया
है बेहतर हर हाल मेरा पिता
सचमुच साथियों के पिता से ज्यादा
स्मार्टर है मेरा पिता

पर,
जब कुछ और ब ा हुआ
सोचा,
नहीं जानते हैं पूरा कुछ पिता
पल रहे थे जब पिता
उनका था पुराना ज़माना
और फिर,
कितना समय भी तो बीत गया
क्या पिता को याद होगा
अपना बचपना?

जब किशोरावस्था में कदम रखा
पिता की पुरातनता का आभास गहरा गया
साथियों से कहा
न दो कान इनकी बातों पर
बाबा आदम के ज़माने की है इनकी सोच

जवानी बढ़ती गई
पिता की पुरातनता अखरती गई
हर बात लगी
आधुनिकता से कहीं दूर पटकी हुई
बे-सिर-पैर की

वयस्कता के द्वार पर पहुँचा
दिल कुछ खटका
कुछ भान हुआ
पिता को है कुछ तो पता
आख़िर ज़िन्दगी गुज़ारी है उन्होंने यहाँ

प्रौढ़ता की देहलीज़ पर पहुँचा
जवानी का गरूर भाग गया
वयस्कता का संदेह भी,
ख ा न रह सका
और तब जाना
क्या होते हैं पिता
काश
मैं पहले जान पाता
पिता की महत्ता।

ईश्वर कप` सी रहा था

दानिश

वह एक साधारण औरत थी। इतनी साधारण कि ज़रा-सी भी में ख ी हो तो दिखायी न दे। अक्सर बाज़ार में चलते हुए उसे लगता, वह किसी को दिखाई नहीं देती। उसका मालिक तो उसकी ओर देखता तक नहीं। वह उसकी कितनी इज़्ज़त करती है। ज़रूर साथिनें उसका हालचाल पूछतीं, जैसे किसी बच्चे से पूछते हैं।

हमेशा वह चीज़ों को ज़ोर से पक` रहती। सिली बनयाइनों का गट्ठर सौंपते हुए उसे भय होता, कहीं वह किसी और की न मान ली जायें। कई बार वह हिसाब पूछना चाहती मगर शब्द उसका साथ न देते। मुनीम पैसा देता तो उसे आश्चर्य होता कि उसका हिसाब बिलकुल ठीक कैसे हुआ। वह पैसों को ज़ोर से पक लेती और जल्दी घर की तरफ निकल जाती। बाजार से कुछ भी खरीदते हुए उसे अपने पैसों की कीमत कम लगती। बहुत डरते-डरते वह चीज़ों के भाव पूछती। पूछती भी क्या इशारा करती....'आलू कितने किलो?'

काँपते हाथों से दाम चुकाती मानों पूछती हो, 'कम तो नहीं?' सब उसकी हालत से परिचित थे और शायद दया ही करते थे उस पर, वरना वह इतने दिनों से ज़िंदा कैसे थी। यूँ उसकी उम्र कुछ ज़्यादा नहीं थी। किंतु बस्ती की दूसरी औरतों की तरह मात्र पैंतीस की उम्र ने ही उसे बूढ़ियों की क़तार में धक्का दे दिया और सहमी-सहमी वह उस तरफ हटती गई ज़िधर चेहरों पर निशान प जाते हैं, बालों में उग आती हैं सफेदियाँ। कभी आइना देखती तो पता नहीं, किसे पहचान कर बातें करती। अपने बेटों से बात करते हुए भी उसे डर लगता। कहीं कुछ गलत न कह बैठे। उसे लगता वह अभी गिर जायेगी। उसके पाँव हल्के प ने लगते।

हाँ, कभी-कभी वह इस भावना से मुक्त भी हो जाती। छोटे के साथ उसे सांत्वना मिलती। उसके लिए गु की डली बचाने में उसे सुख मिलता। रोज़ रात वह उसे कहानियाँ सुनाती। उसकी कहानी कभी रोटी बनती, कभी कप ा, कभी खिलौने, कभी तलवार। कहानियों की दुधारी उठाये वह भय के पार निकल जाती। छोटा उसका चेहरा देखा करता। इस समय उसे अपनी छवि बहुत ऊँची दिखाई देती, जो अभी हाथ बढ़ा कर चाँद-तारे तो लायेगी।

बेटे के साथ उसे शांति मिलती जो अनजाने ही उसे सँभाले हुए था। कभी-कभी वह सोचती छोटा उसे बचा लेगा। वह उसे गोद में बिठा कर कितनी वज़नी हो जाती। उसके साथ वह अपने तमाम भय भूल जाती जो हमेशा उसके अस्तित्व को घेरे रहते।

मगर आज छोटा बहुत बीमार था। बुखार और बेहोशी ने उसे तो डाला था। वह बहुत तेजी से मशीन चला रही थी मानो अपने दुर्भाग्य को पीछे छो जाना चाहती हो। मगर पहिया बार-बार अटक जाता। धागा बार-बार टूटता। सूई बार-बार मर जाती। रुआँसी हो आती वह। रात बीत रही थी। अभी दर्जनों बनियाइनें सिली जानी बाकी थीं। हर कीमत पर वह उन्हें सी डालना चाहती थी।

छोटा बीमार था। न मालूम कौन-सा रोग था जो उसे खा जाना चाहता था। उसे डर लगता। सात महीने पहले ही किसी बीमारी ने उसके मर्द की जान ली थी। इसी तरह वह भी बुखार में त पता, बेहोश हो जाता, बर्राता रहता था। उसने सोचा और कातर हो पुकार उठी, ब`....मगर ब ा कहाँ था?

उसका ब ा बेटा रोटियों के कारखाने में काम करता था। और देर रात लौटा करता था। भट्ठियों की आँच ने उसकी बाँहों पर भद्दे निशान डाल दिये थे। बात करते समय वह उन्हें सहलाया करता। जीवन की मार ने उसके जब` तो डाले थे, जिसमें दूध का एक भी दाँत बाकी नहीं बचा था और मालिक की छोकरी के साथ कंचे खेलने के जुर्म में उसकी पिटाई कितनी ही बार हो चुकी थी।

रात गये ब ा लौटता तो वह जाग रही होती, मगर वह कुछ भी नहीं खाता था। सुबह ज़रूर उसे खूब भूख लगती। वह जान गयी थी कि उसे जुए की लत थी और अब और भी कुछ है। उसे प्रतीक्षा रहती किस दिन नशे में धुत लौटेगा। कब ला बिठायेगा किसी राह चलती को।

'खेल रहा होगा कहीं' उसे ध्यान आया। निराश हो उसने सब देखा। मशीन पर झुक गयी वह। मशीन के साथ मशीन हो गयी। बहुत तेजी से चल रहे थे उसके हाथ, मानो दुर्भाग्य का एक-एक छेद बंद कर देना चाहती हो।

बस-बस कर उठा उसका दुर्भाग्य। धागा नहीं टूटा। सुई नहीं टूटी। मशीन जाम हो गयी। आगे न पीछे, पहिया किसी ओर नहीं घूमता। धरती घूम गयी। उसे लगा कमरा घूम रहा है। हतप्रभ हो उठी, मानो छोटा गया....

चाँद ! मेरे चाँद ! साँसें ढूँढने लगी ध कनें, टटोलने लगी जो कहीं गयी नहीं थीं। उसने मशीन की ओर देखा मानो पूछ रही हो - धोखा दिया?

उसके मर्द ने क्या छो ा था उसके लिए जो उसे सहारा देता - यही मशीन। मशीन नहीं तो मरते समय उसने उसी ओर संकेत किया जिधर रखी थी मशीन।

तब कहाँ समझ पायी थी वह। उसे कहाँ पता था कि उसका स्वार्थ किस संकट में था। वह तो अपने प्यार की ओर देख रही थी। मरते हुये उसके मर्द ने किया था एक ठोस संकेत जो किसी वायवीयता से प्रेरित नहीं था। कुछ नहीं समझी, तब भी मशीन नहीं बेची उसने। अपनी वह हँसुली बेच कर उसने अपने मर्द का क्रियाकर्म कर दिया, जो पहली रात मिली थी उसे।

पहली रात। आधे चाँद की रात और चाँदी की हँसुली। उसे खूब याद है चाँद कितना लजाया था। कितनी जोर से मुस्कुरायी थी वह, चाँदी की हँसुली देख कर।

चाँद ! मेरे चाँद ! रो प ी वह। बुखार में तप रहा था छोटा। ब ा अस्पताल शहर में था। वह उसे शहर ले जाना चाहती थी। दवा-दारू करवाना चाहती थी। सेठ से उधार माँगना चाहा था उसने, मगर शब्दों ने साथ नहीं दिया था उसका और अब मशीन ने भी साथ छो दिया।

छोटा सिहरा। उसके अनुभव की वह कँपकँपाहट और काँप उठी - हे ईश्वर ! वह झुक गयी जैसे टूटी टहनी निरखती हो अपनी हरियाली। झरती रहीं उसकी प्रार्थनाएँ उसके मन में, जैसे कोठ का अनाज गिरता है कोठ में।

तुम तो सबकी सुनते हो, मेरी भी सुध लो दयानिधान....बस आगे न बोल सकी वह। नाक की लौंग पर लटक गया उसका आँसू। मुर्दा थी मशीन। असहाय थी सुई। ख़ामोश था धागा और कप ा सफेद। उसे भय लग रहा था। हवा हिल नहीं रही थी। सीधी थी दीये की लौ, मानो पीतल की बनी हो। दीये की लौ में चमक रही थी उसकी कातर प्रार्थना। दीये की रोशनी में भी होते हैं रंग कि गरीब का सपना भी रंगीन हो जाये। दीये की रोशनी में भी होता है सत्य कि गरीब भी देखे कि सच्चाई क्या है।

वह देख रही थी एक आलौकिक दृश्य जो उसके आँसुओं में चमका, ठहरा नाक की लौंग पर, एक अद्भुत प्रभा जो उसने कभी नहीं देखी थी। कोना-कोना चमक उठा घर।

'क्या यह तू है?' उसने पुकारा।

'मैं हूँ....' उसने साफ सुना, जवाब आया था।

देखा उसने, आहिस्ता-आहिस्ता खुल रहा था कप ों का गट्ठर। घूम रही थी कैंची। नाप-जोख कर रहा था फीता। सुई में दौ गया धागा। घूमने लगा मशीन का छोटा पहिया। सिली जा रही थीं बनियाइनें, कमीज रफू की जा रही थी, टाँके जा रहे थे उसके बटन, जो प ोसी ल के ने दी थी।

हे ईश्वर ! हे ईश्वर ! प्रार्थना में झुकती गयी वह। छोटे ने मानो महसूस किया उसका संतप्त हृदय, पगलाया माथा। उसकी बाँहें उठीं और नेह में सिमट गयीं। वह नन्ही गौरैय्या-सी दुबक गयी। उसे विश्वास था, छोटा उसे पाल लेगा। चुगायेगा। जब उसकी हड्डियाँ बूढ़ी हो जाएँगी, दूसरों की तरह बिठा नहीं आयेगा किसी भी भरे घाट पर, अकेली असहाय। डूब गयी नेह जल में।

दौ ा जा रहा था धागा। कूद रही थी सुई। ईश्वर कप े सी रहा था। घूम रहा था मशीन का छोटा पहिया। 'ईश्वर को देखा माँ?' हुलस रही थी वह अपनी मरी माँ सी, जो उसे कहानियाँ सुनाती, उसके भय के ख़िलाफ़ कहानियों के गोले दागती।

दरवाज़ा बंद नहीं था। ब ा कब लौटे। फिर भी औरत वाले दरवाज़े पर आवाज़ लगाने का रिवाज़ है। प ोस का बेरोज़गार ल का जो किताबों का रसिया था, उसे पुकारना चाहता था। 'ओ माँ....' उसका लहज़ा बंगालियों-सा था। किंतु वह बंगाली न था। पता नहीं उसके पुरखों में मंगोल रक्त कौन लाया था।

किवा ों-सी हिलीं पलकें, 'आ जाओ. . . .अंदर देखो तुम्हारी कमीज़ टँक गयी और रफ़ू भी हो गयी। ईश्वर ने ख़ुद सिया है इसे।' वह हँसी।

'ऐसी औरत और चाँदी-सी खनके?' ल के को अचरज हुआ, 'कहाँ सुनी थी उसने ऐसी हँसी? किस उपन्यास में?'

'किसी से कहना नहीं, वह आया था। उसी ने सिलीं सारी बनियाइनें. . . .परेशान कर डालेंगे लोग. . . .बहुत काम रहता है उसे। दुनिया में कितने ही दुखियारी हैं।' मुस्कुरा उठी वह।

ल का हैरान था। क्या औरत पागल हो गयी थी। कमीज में बटन तक नहीं टँके, रफ़ू क्या होती। फिर भी उसे लगा इंकार न करे। 'अरे ख़ूब. . . .आज तक नहीं देखा ऐसा रफ़ू. . . .कमाल है, कमाल है।' बौखलाकर बोला वह और भाग ख ा हुआ। मानों भूत लगे हों। अभी वह देखेगी अनसिली बनियाइनें और मरे हुए बेटे की फटी आँख।

औरत के ख़याल से भागा जा रहा था वह। मगर उस औरत के बिना कहीं पहुँच भी नहीं पा रहा था।

धरती की पी ा

उपासना सिंह

जन उत्पी न, कलह वेदना
अनवरत मेरी छाती को भेदता
उत्खनन से
लहुलुहान
गहरायी तक समा गयी पी ा
और प्रदूषण अन्तस को मेंटता
उच्छ्वास हो रहा मेरा हृदय
निश्वास्
मैं किंकर्तव्यंविमूढ़ होकर
सारा दर्द अकेले पीती
सन्तुलन के बिना जीती
जब
असहाय हो गयी मेरी वेदना
और फूट गयी पी ा
हवाओं के वेग में, तूफ़ानों में
समुद्र में उठते हुये ज्वार-भाटों में
मेरा आँचल तार-तार हो गया
और कराहने लगा मेरा वक्ष
हो गया नाश, महानाश
मृत्यु भी कराहने लगी
पर मेरे जन !
तुम्हारे सजल नयन
हो गये अनयन
तुम हो गये पंगु, वधिर, सूर
कहाँ तक पी ा पिऊँगी?
अन्त में जब हार जाऊँगी
सभी को समा लूँगी।

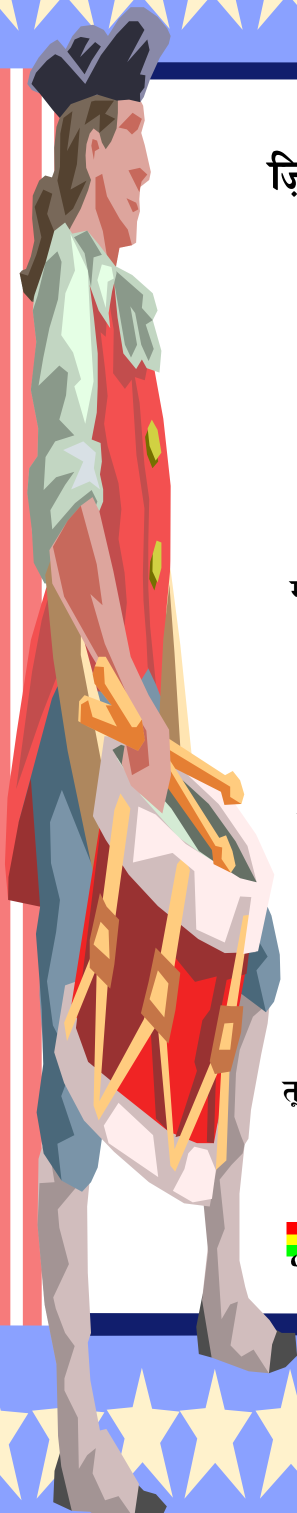

ज़िन्दगी का जहाँ कारवाँ आ गया

राम प्रसाद शर्मा 'महरिष'

ज़िन्दगी का जहाँ कारवाँ आ गया
क़ाफ़िला आँधियों का वहाँ आ गया

हमने जाकर चमन में कही थी ग़ज़ल
फिर भी सहरा का उसमें बयाँ आ गया

मौसमे-गुल का उन्वाँ था जिस पर रक़म
उस फ़साने में ज़िक्रे-खिज़ाँ आ गया

सामने मेरे धरती की तस्वीर थी
ज़ेहन में घूमकर आसमाँ आ गया

बात की जिसने दुनिया के कल्याण की
हो के उसका मुख़ालिफ़ जहाँ आ गया

नाम इंसाँ का आया जबाँ पर जहाँ
नाम शैताँ का जु   कर वहाँ आ गया

है तज़ाद इस क़दर, तौबा तौबा यहाँ
तू भी 'महरिष', भटक कर कहाँ आ गया

स्नेह ठाकुर की प्रकाशित पुस्तकें

अनमोल हास्य क्षण	(नाटक-संग्रह)
जीवन के रंग	(काव्य-संग्रह)
दर्दे-ज़ुबाँ	(नज़्म व ग़ज़ल संग्रह)
आज का पुरुष	(कहानी-संग्रह)
जीवन-निधि	(काव्य-संग्रह)
आत्म-गुंजन	(आध्यात्मिक-दार्शनिक गीत)
हास-परिहास	(हास्य कविताएँ)
ज़ज़्बातों का सिलसिला	(काव्य-संग्रह)
The Galaxy Within	(A collection of English poems)
अनुभूतियाँ	(काव्य-संग्रह)
काव्य-वृष्टि	(संकलन एवं संपादन)
पूरब-पश्चिम	(आप्रवासी सम्बन्धित आलेख संग्रह)
बौछार	(संकलन एवं संपादन)
काव्य हीरक	(संकलन एवं संपादन)
संजीवनी	(स्वास्थ्य सम्बन्धी लेख)
उपनिषद् दर्शन	(अध्यात्मिक)
काव्य-धारा	(संकलन एवं संपादन)
काव्यांजलि	(काव्य-संग्रह)
अनोखा साथी	(कहानी-संग्रह)

प्रकाशक व वितरक

स्टार पब्लिकेशंज़ (प्रा.) लि.
४/५ बी., आसफ अली रोड
नई दिल्ली - ११०००२
भारत
Star Publishers' Distributors
55, Warren Street
LONDON – W1T 5NW
England

दिल्ली प्रेस की सरिता व अन्य राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय
पत्रिकाओं में भी रचनाएँ प्रकाशित